सुखदास

[जार्ज इलियट का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास]

'साइलस मारनर'

हिन्दी रूपान्तरकार

प्रेमचन्द

सरस्वती प्रेस बनारस

तृतीय संस्करण] मार्च, १९४५ [मूल्य ।।।)

भूमिका

'साईलस मारनर' अँगरेज़ी का मशहूर उपन्यास है। वह मानव-हृदय के रहस्यों का एक अनूठा चित्र है। लेखक ने भावों की मार्मिकता को ऐसी उत्तम रीति से चरितार्थ किया है कि अँगरेज़ी भाषा के कितने ही विज्ञ जनों के विचार में यह अँगरेज़ी का सर्वोत्तम उपन्यास है। इसकी भाषा इतनी चुटीली, इतनी मर्मस्पर्शी, और इतनी प्रतिभापूर्ण है कि उसका उत्तम अनुवाद करना किसी हिन्दी के धुरन्धर लेखक ही का काम है। 'सुखदास' उसके अनुवाद होने का दावा नहीं करता। यह उसका केवल रूपान्तर मात्र है, केवल अलंकारविहीन छाया है। इसे अँगरेज़ी कपड़ों के बदले देसी कपड़े पहना दिये गये हैं, भाव, स्थान, वेष, रीति-नीति सब कुछ जातीय रंग में रंग दिये गये हैं—कम से कम इसकी चेष्टा की गई है। इस वेषपरिवर्त्तन में हमें विवश होकर बहुत कुछ उलट-फेर करना पड़ा है। इलियट के उपन्यासों में अँगरेज़ी जीवन का बहुत चोखा रंग होता है। हमको यह सब मिटाना पड़ा। सुखदास उस साईलस मारनररूपी दूध का मक्खन, चाहे न हो पर उस लकड़ी का हीर अवश्य है, अथवा इसे उस तसवीर का रंग-रहित खाका समझिए। हमने चेष्टा की है कि पात्रों के द्वारा कोई ऐसे भाव न प्रकट कराये जायँ, जो हम भारत-वासियों को अपरिचित से जान पड़ें—किस्सा वही रहे पर स्वाभाविकता हाथ से न जाने पाये। हम कहाँ तक इस प्रयत्न में सफल हुए हैं इसका अनुमान करना पाठकों पर छोड़ना ही उचित है।

—लेखक

जार्ज इलियट

'जार्ज इलियट' का असली नाम 'मेरी एन्न इवेन्स' था। उसने स्त्री होकर पुरुष का नाम रखा था, इसका कारण यह है कि उस समय लेखिकाओं को साहित्य-समाज में आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। यद्यपि उसके समय में भी कई उपन्यास-लेखिकाएँ वर्तमान थीं जिन्हें अपना असली नाम प्रकट करने में कोई संकोच न होता था और आजकल तो सैकड़ों महिलाएँ उपन्यास लिखती हैं। पर तो भी उस समय में 'लेडी नावेलिस्टों' की कुछ न कुछ उपेक्षा अवश्य होती थी। पर मेरी एन्न अधिक समय तक गुप्त न रह सकीं। चार्ल्स डिकिन्स ने, जो उस समय के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार थे, जार्ज इलियट की पहली रचना को देखकर स्पष्ट कह दिया कि इसको लिखनेवाली अवश्य कोई स्त्री है।

मेरी एन्न का जन्म नवंबर १८१६ को हुआ। उसके पिता का नाम राबर्ट इवेन्स था जो बढ़ई और राज का व्यवसाय करता था। वह बहुत ही कार्य्य-कुशल और सत्यवादी मनुष्य था। जार्ज इलियट ने 'आडम बीड' नाम के उपन्यास में अपने पिता का बहुत ही वास्तविक और उत्तम चरित्र अंकित किया है।

मेरी एन्न की अवस्था के २१ वर्ष अपनी जन्मभूमि ही में व्यतीत हुए। यहीं उसको ग्रामीण जीवन का वह अनुभव प्राप्त हुआ जिसका उसने अपने उपन्यासों में बड़ी मार्मिक रीति से वर्णन किया है। ग्रामीण जीवन का उल्लेख ही इलियट के उपन्यासों का प्रधान गुण है। यहाँ उसने जो कुछ देखा और सुना वह उसके हृदयस्थान पर अंकित होता गया। कल्पना के उत्कृष्ट रंगों में रँगकर उसके बाल्यावस्था के देहाती मनुष्य अमर हो गये हैं।

मेरी एन्न ने १६ वर्ष की अवस्था में स्कूल की शिक्षा समाप्त कर ली और

वह अपने पिता की गृहिणी बन गई। स्कूल में वह एक साधारण बालिका थी। उसकी भावी प्रतिभा का उस समय तक विकास न हुआ था। हाँ पुस्तकावलोकन से उसे विशेष रुचि थी और उसके स्वभाव में विचारशीलता और दयालुता की मात्रा अधिक थी।

मेरी एन्न जब २१ वर्ष की युवती हुई तो धीरे-धीरे धार्मिक विषयों से उसका परिचय होने लगा। उस समय में यूरुप के सभी प्रदेशों में ईसाई मत पर विद्वज्जनों को शंकाएँ होने लगी थीं और स्वतंत्र धार्मिक विचारों का प्राबल्य होता जाता था। मेरी एन्न पर विचारस्वातंत्र्य का जादू चल गया। उसकी कई स्वाधीनमतावलम्बियों से मित्रता हो गई और उनके सत्संग का उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि अंत को उसने भी ईसाई धर्म को त्याग दिया और गिरजाघर में ईशवन्दना के निमित्त जाने से वह संकोच करने लगी। उसके बूढ़े और प्राचीन धर्म के भक्त पिता को उसके विचार-परिवर्तन से अत्यन्त दुःख हुआ। विशेष इसलिए कि मेरी एन्न गिरजा में न जाती थी। निकट था कि यह धार्मिक मतभेद उन्हें सदा के लिए पृथक् कर देता पर मित्रों के समझाने-बुझाने का यह असर हुआ कि मेरी एन्न ने अपने पिता को प्रसन्न रखने के लिए गिरजाघर जाना स्वीकार किया। पर वह अपने स्वतंत्र विचारों को न त्याग सकी। इसी धुन में उसने जर्मन भाषा में लिखे हुए 'ईसा मसीह' के एक जीवनचरित्र का अँगरेज़ी भाषा में अनुवाद किया जिसमें अस्वाभाविक चमत्कारों का खूब खंडन किया गया था। यद्यपि उसने अपने प्राचीन धर्म को छोड़ दिया था तिस पर भी वह दुराग्रहपूर्ण शंकावाद का समर्थन न करती थी। वह ईसाई धर्म के सद्गुणों को स्वीकार करती थी। उसके ग्रन्थों को देखकर यह कोई नहीं कह सकता कि वह एक पक्के ईसामतानुरागी की रचना नहीं है। वह धार्मिक सरलता और दृढ़ता को हृदय से आदर करती है और ईसाई धर्म तथा जीवन के बहुत ही सहृदयतापूर्ण चित्र खींचती है। कदाचित् वह अर्धशिक्षित जतता के लिए ईसाई मत ही को उपयुक्त समझती थी। जनता को विचारस्वाधीनता से लाभ के बदले उलटे हानि होने का भय था।

इसे वह शिक्षितसमुदाय ही के लिए अनुकूल समझती थी। विद्वानों में सिद्धान्तप्रेम जो काम करता है, वही काम जनता में श्रद्धा करती है और श्रद्धा सिद्धान्तों से प्रेम नहीं करती -- वह अवतारों में भक्ति करती है।

सन् १८४९ में राबर्ट इवेन्स साहेब का देहान्त हो गया। मेरी एन ने पिता की मृत्यु के पश्चात् कुछ समय तक यूरुप के प्रधान प्रधान देशों में भ्रमण किया। वहाँ से लौटकर वह लंदन के एक प्रसिद्ध मासिक पत्र की सहायक सम्पादिका का काम करने लगी। यहाँ उसे बड़े बड़े लेखकों और विद्वानों से संसर्ग का अवसर मिला। हर्बर्ट स्पेन्सर से इसी समय उसका परिचय हुआ और दोनों में मित्रता हो गई, जो जीवनपर्य्यन्त रही। इन्हीं विद्वान् मित्रों में एक सज्जन जार्ज हेनरी लुइस थे। उन्हीं की प्रेरणा से मेरी एन ने साहित्यक्षेत्र में पदार्पण किया। १८५८ में उसने अपनी कई गल्पों का एक संग्रह प्रकाशित कराया जिसमें ईसाइयों के धार्मिक जीवन के चित्र खींचे गये थे। इस पुस्तक का चार्ल्स डिकिन्स आदि उपन्यासकारों ने ऐसा उदारतापूर्ण स्वागत किया कि उससे उत्तेजित होकर जार्ज इलियट ने १८५९ में अपना पहला उपन्यास 'आडम बीड' प्रकाशित किया। 'साईलस मारनर' जो उसका तीसरा उपन्यास है, १८६१ में प्रकाशित हुआ। यह उसकी सर्वोत्कृष्ट रचना मानी जाती है।

ये चारों ग्रंथ जार्ज इलियट के सर्वोत्तम ग्रंथ हैं। इन्हींने उसकी ख्याति देशदेशान्तरों में फैला दी। इन पुस्तकों में उसने उसी जीवन के दृश्य और चरित्र दिखाये हैं, जिन्हें उसने स्वयं अपने बाल्यकाल में देखे थे और इसी कारण ये बहुत ही सजीव और मार्मिक हो गये हैं।

इसके पश्चात् उसने फिर इटली की सैर की और वहाँ से लौटकर एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा जिसका नाम 'रोमोला' है। १८६८ में उसका 'फैलिक्स होल्ट' निकला जो कुछ समालोचकों के विचार में रवीन्द्रबाबू के 'घरे और बाहरे' का मूलाधार है। १८७६ में उसकी अंतिम पुस्तक 'डैनियल डेरोंडा' प्रकाशित हुई। इन पिछली रचनाओं में जार्ज इलियट को वह सफलता नहीं हुई जो पूर्व की रचनाओं में हुई थी। इनमें उसने अपनी विद्वत्ता, अपने

दार्शनिक सिद्धान्तों और अपने नैतिक उपदेशों को चरितार्थ किया है। चरित्रों-का विश्लेषण, उनका उत्थान और पतन और उनकी मनोवृत्तियों की मीमांसा इन ग्रन्थों के प्रधान गुण हैं। पर इनमें वह सजीविता और स्वाभाविकता नहीं आ सकी है जो उसकी पूर्वरचनाओं के महत्त्व की कारण है। उपन्यास वही उत्तम होता है जो स्वाभाविक और रुचिकर हो। विद्वत्ता के लिए यहाँ बहुत कम स्थान होता है। चरित्रों की मीमांसा अवश्य उपन्यासों में होना चाहिए, किन्तु इतनी जटिल और सूक्ष्म नहीं कि प्रत्येक वाक्य और विचार की छान-बीन की जाय। इससे कहानी के प्रवाह में बाधा पड़ती है और पाठक उकता-कर पढ़ना छोड़ देता है। जार्ज इलियट के पिछले ग्रन्थों में यह दोष है जिसके कारण वे बहुत कम पढ़ जाते हैं। वे शुष्क और निर्जीव दार्शनिक, नैतिक और सामाजिक सिद्धान्तों के बोझ से लदे हुए हैं। १८८० में ६१ वर्ष की अवस्था में जार्ज इलियट का देहान्त हो गया।

—प्रेमचन्द

सुखदास

पहला अध्याय

एक ऐसा समय भी गुजरा है जब कि भारत के गाँव-गाँव और छोटी-छोटी बस्तियो में स्त्रियाँ चरखा काता करती थीं। केवल साधारण श्रेणी की स्त्रियाँ ही नहीं, रेशमी वस्त्रों से विभूषित स्त्रियाँ भी इस काम के करने में संकोच न करती थीं। कभी कभी दूरस्थ बस्तियों में साधारण प्रकार और पीले रंग के फेरीवाले भी दिखाई देते थे, जो हृष्ट-पुष्ट ग्रामीणों की अपेक्षा लघुतर मालूम होते थे। कृषकों के कुत्ते उन्हें अपरिचित मालूम होते थे। ये लोग या तो जोलाहे होते थे, या बिसाती। उनकी पीठ पर सूत या बिसाते के वस्तुओं की गठरी होती थी, जिसके बोझ से वे झुके हुए चलते थे।

गत शताब्दी के आरम्भ में सुखदास नाम का जोलाहा एक पत्थर के मकान में अपना काम किया करता था, जो लालपुर में स्थित था। उसके करघे और चरखे में से इस प्रकार भनभनाती हुई ध्वनि निकलती थी कि गाँव के बालक अपने रोचक खेलों को छोड़कर उसके मकान की खिड़कियों में से यह कौतुक देखा करते थे। वे चरखे के भिन्न भिन्न प्रकार के स्वर और फिरकियों को देखकर आश्चर्य्य करते थे। कभी कभी जब सुखदास टूटे हुए धागों को जोड़ने या और कोई दोष दूर करने के लिए अपने स्थान से उठता और बालकों को खिड़की में से झाँकते हुए देखता तो उनको भय दिखाने के के लिए उनकी ओर आँखें निकालकर दौड़ता था। बेचारे बालक डर के मारे चम्पत हो जाते थे।

ग्राम के बालकों ने अपने पिता-माता से सुना था कि सुखदास चाहे तो गठिया आदि की ओषधि कर सकता है। वह भूत-प्रेत आदि से भी परिचित बतलाया जाता था। उस समय के कृषकों के, कुछ इसी प्रकार के विचार थे

और होने भी चाहिए थे, क्योंकि वे संसार की बातों से कोरे थे। उनके समीप दुःख और कष्ट का क्षेत्र आनन्द और सुख के क्षेत्र से अधिक विस्तीर्ण था। उनके मन और विचार उन बातों की कल्पना भी न कर सकते थे, जो इच्छाओं और आशाओं का स्रोत हैं। इसके प्रतिकूल उनके मस्तिष्क उन विचारों और श्रुतियों से परिपूर्ण थे, जो भयकारी होते थे।

लालपुर देश के उस भाग में स्थित था, जहाँ की भूमि सुरम्य थी और सड़क से एक घंटे के मार्ग पर होने के कारण वहाँ धर्म और भक्ति की चर्चा भी रहती थी। सुखदास इस गाँव में १५ वर्ष पूर्व आकर बसा था। यद्यपि नागरिकों के समीप इस मनुष्य में कोई अद्भुत बात न थी, तथापि ग्रामीणों के विचार से वह एक अद्भुत मनुष्य था। उसके रहन-सहन का ढङ्ग कुछ निराला-सा था। न तो किसी के घर जाता और न किसी को अपने घर बुलाता। वह तम्बाकू या मदिरा आदि भी न पीता था। वह केवल अपने जीविका-सम्बन्धी कार्य्यों के वश तो दूसरों के पास जाता, बाक़ी समय अपने व्यवसाय और विश्राम में व्यतीत करता था।

सुखदास मध्यम ऊँचाई का मनुष्य था। उसका रंग पीला था; उसके नेत्र अद्भुत प्रकार के थे, मानो किसी मुर्दे की आँखें हों। उसने अपनी माँ से जड़ी-बूटियों का ज्ञान प्राप्त किया था और तन्त्र-मन्त्र भी वह जानता था। झाड़-फूँककर रोगियों को अच्छा कर देता था। इन्हीं बातों के कारण वह अद्भुत प्रकृति रखते हुए भी लोगों के अत्याचार से सुरक्षित रह सकता था।

पर १५ वर्ष पहले जब वह मधुवन नाम के गाँव में रहता था, उसका जीवन ऐसा शुष्क और आनन्दविहीन न था। वहाँ उसका आदर किया जाता था और लोग उसे धार्मिक मनुष्य समझते थे। उसी गाँव में एक बेर कीर्तन के समय वह शिवाले में अचेत हो गया था। तब से उस पर लोगों की श्रद्धा और भी हो गई थी। वहाँ उसके मित्रों में गोपाल नाम का एक युवक था। सुखदास बहुधा उसके साथ आमोद-प्रमोद किया करता था। वे दोनों सदैव एक साथ भोजन करते थे। गोपाल भी सच्चरित्र समझा जाता था और रामा-

यण आदि पढ़ सकता था, जिसके कारण वह शिवाले के पुजारी को भी तुच्छ समझता था। दोनों मित्रों में प्रायः मुक्ति और उसके साधन के विषय में प्रायः वार्ता हुआ करती थी। गोपाल ही के उद्योग से सुखदास का विवाह भी निश्चित हो गया था और उसकी तय्यारियाँ की जा रही थीं। उन्हीं दिनों गाँव के मन्दिर के महन्तरामदास बीमार हो गये। गाँव के लोग उनको पूज्य समझते थे, अतएव बारी-बारी से उनकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे। शनैः शनैः सुखदास की बारी आई। एक रात्रि जब कि वह अकेले महन्तजी के पास था तो उनका देहान्त हो गया। उस दिन गोपाल की बारी भी थी, पर वह एक घण्टे के लिए भी न आया। प्रातःकाल गाँव में यह समाचार फैला तो लोग जमा होकर महन्तजी की दाह-क्रिया का प्रबन्ध करने लगे। वहाँ से लौटने पर सुखदास गोपाल के पास जाने ही वाला था कि मन्दिर के पुजारीजी उसे लिये हुए स्वयं आ गये और बोले—आज कीर्तन के समय अवश्य आना। सुखदास ने इसका कारण पूछा, तो उन्होंने उत्तर में कहा कि कारण वहीं ज्ञात हो जायगा। यह कहकर वे गोपाल के साथ चले गये।

सुखदास जब नियमित समय पर मन्दिर में पहुँचा तो गाँव के कितने ही सज्जन जमा थे। पुजारी ने एक चाकू निकालकर सुखदास को दिखाया और पूछा—'यह चाकू तुम कहाँ भूल गये थे ?'

सुखदास ने उत्तर दिया, 'यह तो मेरे जेब में था।'

पुजारी—'तो मेरे पास कैसे आ गया ?'

सुखदास—'यह मैं नहीं बतला सकता।'

पुजारी—'तुम अपना दोष व्यर्थ छिपाते हो। यह चाकू महन्तजी के बिस्तर के नीचे मिला है, जहाँ मन्दिर की आमदनी एक थैली में भरी हुई रखी थी। किसी ने वह थैली वहाँ से उड़ा दी और उड़ानेवाला इस चाकू के मालिक के सिवाय और कौन हो सकता है !'

सुखदास कई मिनट तक चुप खड़ा रहा। अन्त में उसने कहा—'मैं निर्दोष हूँ। मुझे न तो मालूम है कि मेरा चाकू वहाँ कैसे पहुँच गया और

न यह जानता हूँ कि रुपये किसने लिये। तुम मेरी और मेरे-घर की तलाशी ले लो। तुम्हें वहाँ केवल ५०) रखे हुए मिलेंगे जो मैंने बचाकर रख छोड़े हैं। वे वहाँ ६ महीने से रखे हुए हैं और यह बात गोपाल भी जानता है।'

गोपाल यह सुनकर भुनभुनाने लगा, जिसका आशय यह था कि मैं किसी के घर का हाल क्या जानूँ। पर पुजारीजी ने ज़ोर देकर कहा—सुक्खू! मेरे पास पूरा प्रमाण है। रुपया गत रात को लोप हो गया। रात को तुम ही महन्तजी के पास थे। गोपाल वहाँ अस्वस्थ हो जाने के कारण नहीं गया। इसे तुम भी स्वीकार करते हो। अब तुम्हीं बताओ किस पर सन्देह किया जाय?

सुखदास—सम्भव है मैं सो गया हूँ, या मुझे मुर्छा आ गई होगी जैसा कि तुम देख चुके हो। कदाचित् उसी समय कोई चोर आ गया होगा। मैं निर्दोष हूँ, तुम अभी चलकर मेरे घर की तलाशी ले लो, क्योंकि अभी तक मैं घर से कहीं गया भी नहीं।

निदान सुखदास के घर की तलाशी ली गई और गोपाल ने महन्तजी की खाली थैली सुखदास के दरवाजे के पीछे टँगी हुई पाई। उसने कहा—मित्र अपराध स्वीकार कर लो, झूठ बोलने से क्या लाभ?

सुखदास ने गोपाल की ओर तुच्छ दृष्टि से देखकर कहा—'तुम मुझे नौ वर्षों से जानते हो। तुमने मुझे कभी झूठ बोलते देखा है? मैं झूठ से घृणा करता हूँ। ईश्वर मुझे अवश्य निर्दोष सिद्ध करेंगे।

गोपाल—मुझे क्या ख़बर कि तुम अपने मन में क्या-क्या गुप्त संकल्प करते हो और उसमें पिशाच को स्थान देते हो।

यह बात सुनकर सुखदास का चेहरा तमतमा गया। वह कुछ कहने ही को था कि किसी आन्तरिक दुःख के कारण रुक गया। उसके चेहरे का रंग उड़ गया और होंठ काँपने लगे। अन्त में उसने गोपाल की ओर देखकर कहा—अब मुझे याद आ रहा है कि जब मैं महन्तजी के पास गया तो मेरे जेब में चाकू नहीं था।

गोपाल—मेरी समझ में नहीं आता कि तुम क्या कहते हो। इस छल-कपट से अब काम न चलेगा। सुखदास को कई आदमियों ने चारों तरफ़ से घेर लिया और वे भिन्न-भिन्न प्रश्न पूछने लगे। पर उसने किसी को उत्तर न दिया। केवल यही कहता रहा कि मैं कुछ नहीं कह सकता। ईश्वर मुझे निर्दोष सिद्ध करेगा।

क़ानून का आश्रय लेना उस मन्दिर के नियम के विरुद्ध था। इस अपराध का जो बड़े-से-बड़ा दण्ड दिया जा सकता था, वह यह था कि सिर्फ़ जात से हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाय। और यही किया गया। कुछ लोगों ने चोर का पता लगाने के लिए चिट्ठियाँ डालीं और संयोगवश उसमें भी सुखदास ही का नाम निकला। अब उसके चोर होने में कोई सन्देह न रहा। पुजारी ने उसे बिरादरी में मिलने का अब भी एक अवसर दिया। इस शर्त पर कि रुपये वापस दे दे और फिर चोरी न करने का प्रण करे। पर सुखदास ने इसका भी कुछ उत्तर न दिया।

इसके पश्चात् सुखदास निराश होकर घर चला आया और अपने मन में इस दुर्घटना पर आलोचनाएँ करने लगा। मैंने पिछली बार जब एक धागा काटने के लिए चाकू दिया था, तब से फिर उसे मैंने जेब में नहीं रखा। वह अवश्य ही गोपाल के पास था। गोपाल ने मेरे साथ विश्वास-घात किया। इस संसार पर न्यायकारी ईश्वर शासन नहीं करता, बल्कि वह अन्यायी है जो निर्दोषियों को दोषी सिद्ध करता है। वह दिनभर उदास बैठा रहा। दूसरे दिन इस चिन्ता को दूर करने के लिए उसने काम करना शुरू किया, पर उसका जी बिलकुल न लगा। वह एक मास तक उस गाँव में और रहा। बिलकुल इसी तरह जैसे क़ैदी कारावास करे। इसके बाद वह वहाँ से किसी स्थान पर चला गया।

दूसरा अध्याय

मधुवन से निकलकर वह जिस गाँव में आया, उस गाँव का नाम लालपुर था। यद्यपि उससे कोई परिचित न था, पर ज़मींदार की दयालुता से उसे छोटा-सा मकान मिल गया और वहाँ वह एकान्तवासी बनकर जीवन व्यतीत करने लगा। अधिकतर वह अपना समय करघे पर लगाता था। अपने हाथों से भोजन बनाता, अपना पानी आप भरता और अपने कपड़े भी आप धो लेता। वह लोगों से विलग रहने लगा। बीते हुए समय को भूलकर भी स्मरण न करता। भविष्य में भी उसे कुछ आशा न थी। उस मिथ्या दोषारोपण ने उसे धर्म तथा संसार दोनों से विमुख कर दिया।

वह अपने काम में अत्यन्त चतुर था। धीरे-धीरे उसके कपड़ों की माँग बढ़ने लगी। उस गाँव में सुभागी नाम की एक ठकुराइन रहती थी। उसने सुखदास से एक ओढ़नी बनवाई और उसे मजूरी में एक मोहर दी। परन्तु उसके लिए वह अशर्फी किस काम की थी, जब कि उसका हृदय अविश्वास से पीड़ित हो रहा था।

एक दिन जब कि सुखदास अपने जूतों की मरम्मत कराने के लिए मोची के यहाँ गया तो देखा कि उसकी स्त्री उसके पास बैठी हुई है। उसकी सूरत से जलोदर रोग के चिह्न प्रकट होते थे। उस समय उसे अपनी माता का स्मरण हो आया, जिसका देहान्त इसी रोग से हुआ था। अतः उसे दुखनी पर दया आ गई। उसने एक औषधि बनाकर उसे दी और संयोग-वश उसे इससे लाभ हुआ। उस बेचारी को वैद्यों और हकीमों की औषधि से कोई लाभ न हुआ था। जब उसे सुखदास की औषधि से लाभ हुआ तो लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वैद्यों की औषधि से स्वस्थ होना एक स्वाभाविक और साधारण बात थी, परन्तु एक जोलाहे की औषधि से स्वास्थ्य लाभ करना आश्चर्यजनक था। उस गाँव में यह पहला ही अवसर था कि एक जोलाहे की औषधि से असाध्य रोग जाता रहा। तब से सुखदास को लोग एक अद्भुत मनुष्य समझने लगे।

इस घटना से सुखदास चारों ओर प्रसिद्ध हो गया। माताएँ आतीं। कोई बच्चे की खाँसी के निवारणार्थ यन्त्र माँगती। कोई दूध उतरने का टोटका पूँछती। कोई मनुष्य गठिया की औषधि माँगता और कोई पुट्ठे के दर्द की। यदि वह दवा देने में कुछ संकोच करता तो उसे रुपये का लोभ दिया जाता। पर सुखदास रुपये का दास नहीं था और कभी भी नहीं हुआ था। पर जब रोगियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ने लगी तो सुखदास को इन लोगों से कष्ट होने लगा। अन्त में उसने एक दिन साफ़ कह दिया कि मेरे पास कोई रोगी न आवे। मुझे न तो कोई सिद्धि है और न जादू-टोने आते है। इसका फल यह हुआ कि सारे गाँव के लोग सुखदास से अप्रसन्न हो गये। यदि किसी उच्च-जाति के मनुष्य ने यह बात कही होती तो वह क्षम्य समझा जाता, पर एक जोलाहे को इतना घमण्ड हो, यह रोगियों की सहन-शक्ति से भी बाहर था। लोग इसकी सूरत से चिढ़ने लगे।

सुखदास को गाँववालों की इस उपेक्षा से लेशमात्र भी खेद न हुआ। वह अपने काम में तन्मय हो गया। प्रतिदिन १६ घण्टे परिश्रम करता। रूखा और साधारण भोजन करता। उसे रुपये जमा करने की चाट पड़ गई। वह हरदम इस चिन्ता में रहता कि किसी तरह मोहरों की संख्या बढ़ जाय। यदि इस मास में ५ मोहरे हैं तो दूसरे में बीस और फिर तीस हो जायँ। इसी क्रम से उसकी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी। काम करते-करते भी उसे अपनी सम्पत्ति का ध्यान आ जाता था। काम से छुट्टी पाते ही वह हर रात्रि को वह बर्तन निकालता, जिसमे अशर्फियाँ रखी हुई थीं, और उन्हें निकालकर गिनता। इस काम में उसे असीम आनन्द और सन्तोष होता था। मानों वह द्रव्य का उपासक था।

गिनने के बाद उन अशर्फ़ियों को एक थैली में बन्द करके एक गड्ढे में रख देता था और ऊपर से बालू फैला देता था। उसे चोर और डाकुओं का डर न था। क्योंकि उस समय के लोग ईमानदार होते थे।

प्रतिवर्ष सुखदास का धन बढ़ता गया और वर्तन अशर्फियों से भरता

गया। उसके जीवन के अब केवल दो अवलम्ब थे। एक कपड़े बुनना, दूसरा धनसञ्चय। वह कठिन परिश्रम करता और धन सञ्चय करने में इस प्रकार लिप्त रहता, मानो यही इसके जीवन की महत्त्वाकांक्षा है। इस निरन्तर परिश्रम से वह दुबला हो गया। ४० वर्ष ही की अवस्था में उसकी कमर झुक गई, रंग पीला पड़ गया और आँखों से कम दीखने लगा। अतएव गाँव के बालक उसे बूढ़ा सुखदास कहने लगे।

इस सांसारिक विरक्ति के होने पर भी सुखदास में प्रेम का चिह्न शेष था जो इस घटना से विदित होता है। जब से वह लालपुर आया था, तभी से उसके पास एक जल का घड़ा था, जिसे वह बहुत चाहता था। स्वयं कुएँ से जल लाता और नित्य घड़े को उसके नियमित स्थान पर रख देता। एक दिन जब वह घड़ा भरकर लौट रहा था, तो उसने ठोकर खाई, घड़ा गिरा, और एक पत्थर से लगकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। सुखदास को बहुत खेद हुआ। यद्यपि फूटे घड़े से कोई काम न निकल सकता था, तथापि वह टुकड़ों को ले आया और उसने उसे जोड़कर निश्चित स्थान पर रख दिया। फूटे घड़े को देखने से उसके चित्त को शान्ति होती थी।

सुखदास के जीवन के पन्द्रह वर्ष इसी भाँति लालपुर में बीते। दिन भर काम करता, रात को भी काम करता। कच्चा-पक्का भोजन बनाकर खाता, तब अशर्फियों और रुपयों को गिनता। इसके बाद शयन करता। वह केवल चाँदी के सिक्कों को व्यय करता था, अशर्फियों को कभी न भुनाता था। अशर्फियों को गिनते समय उसके नेत्रों से द्रव्य-प्रेम की ज्योति निकलती थी। जब धन अधिक बढ़ गया तो उसने उसे चमड़े की थैली में रखना शुरू किया, पर उसका धनावलोकन और निरीक्षण पूर्ववत् जारी रहा। उसे द्रव्य से इतना प्रेम हो गया था कि रात को सोते समय भी वह रुपयों और अशर्फियों का ही स्वप्न देखता! यद्यपि उसके पास बहुत धन जमा हो गया था, पर गाँववालों को इसकी ज़रा भी ख़बर न थी।

तीसरा अध्याय

लालपुर में सबसे प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित पुरुष ठाकुर नरेशसिंह थे। वे एक विशाल भवन में रहते थे। यद्यपि उनके पास भूमि बहुत थोड़ी थी और आसामी भी अधिक न थे, पर समय पड़ने पर वे उनके यहाँ इस प्रकार से दोहाई मचाने जाते, मानो वे उनके राजा हैं। जनता ने उन्हें राजा की पदवी प्रदान कर दी थी। लालपुर में उस समय तक कबीर के उपदेशों का प्रभाव नहीं पड़ा था। वहाँ के निवासी आनन्द से जीवन व्यतीत करते थे।

ठाकुर नरेशसिंह एक तो स्वयं फ़िज़ूल खर्च आदमी थे, दूसरे उनकी स्त्री का देहान्त हो चुका था। इसलिए उनके घर में बहुत कुछ कुप्रबन्ध था। उनके दो लड़के थे। बड़ा लड़का महीप सिंह एक सच्चरित युवक था, पर आलस्य में पड़े रहने के कारण वह घर के कामों में अपने पिता की सहायता न करता था। दूसरा पुत्र दिलीपसिंह शराबी और आवारा था। वह कभी कभी अपने बड़े भाई से रुपया उधार ले लिया करता, पर देना न जानता था। और यद्यपि महीप सिंह को कई बार इसका अनुभव हो चुका था, पर वह सरल स्वभाव होने के कारण दिलीप सिंह की बातों में आ जाता था।

एक दिन संध्या समय महीप सिंह ने दिलीप को बुलाकर उन रुपयों का तक़ाज़ा किया, जो उसने एक असामी से वसूल करके दिये थे। दिलीप उस वक्त शराब के नशे में था, अकड़ता हुआ आया और गर्व से बोला, "आपने मुझे क्यों याद किया?"

महीप—"पिताजी को रुपयों की आजकल विशेष आवश्यकता है। करीम का लगान, जो मैंने तुमको दिया है, चटपट दे दो। नहीं तो मैं पिताजी से साफ़ कह दूँगा कि मैंने रुपये तुम्हें दिये हैं। मैं तुम्हारे पीछे उनकी अप्रसन्नता नहीं सहना चाहता।"

दिलीप—"रुपयों का प्रबन्ध तो आप ज़्यादा आसानी से कर सकते हैं।"

महीप—"यदि मैं प्रबन्ध कर सकता, तो तुम्हें कष्ट न देता। और मैं प्रबन्ध कर भी सकूँ, तो भी तुम्हें रुपये देने चाहिए।"

दिलीप—"चाहिए तो, पर आयें कहाँ से?"

महीप—"लेने के समय तुम्हें स्वयं इस प्रश्न का उत्तर सोच लेना चाहिए था।"

दिलीप—"इतनी ही समझ होती, तो सबकी फटकार क्यों सहता? आपने जहाँ मुझ पर इतनी दया की है, वहाँ इतनी कृपा और कीजिए कि किसी से ऋण लेकर पिताजी को उनके रुपये दे दीजिए। हमारा और आपका लेखा फिर होता रहेगा।"

महीप ने सोचकर कहा—'एक बात हो सकती है। तुम मेरा घोड़ा बेच लाओ। इसके सिवाय मुझे अन्य कोई उपाय नहीं सूझता। पर यह समझ लो कि मेरा और तुम्हारा यह अन्तिम व्यवहार है। अब मैं तुम्हें एक कौड़ी भी न दूँगा।"

दिलीप—"इतनी कठिन प्रतिज्ञा न कीजिए, पर आपका घोड़ा मैं बेच लाने के लिए तैय्यार हूँ और आपको विश्वास दिलाता हूँ कि एक रुपया भी शराब पीने में न ख़र्च करूँगा।"

यद्यपि महीप इस घोड़े को बहुत चाहता था, पर इस समय विवश होकर उसे बेचना पड़ा। दिलीप एक कुचरित्र युवक था। रात दिन जुये, मदिरा-पान तथा कुचेष्टाओं में आसक्त रहता था। महीप उसे अपना घोड़ा देते हुए डरता था कि कहीं वह उसे बेचकर उसके रुपये न उड़ा जाय और चाहे इतना साहस न कर सके, पर इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं था कि पूरा मूल्य मेरे हाथों में न आयेगा। वह स्वयं दस कोस तक घोड़े की पीठ पर बैठने का कष्ट सहने में असमर्थ था। आलस्यमय जीवन ने परिश्रम से उसके मन में घृणा पैदा कर दी थी। यहाँ तक कि घोड़े के मूल्य के उड़ जाने तथा असावधानी से दौड़ाने के कारण उसके प्राणान्त हो जाने की शंका ने भी उसको उत्तेजित न किया।

प्रातः होते ही दिलीप घोड़े पर सवार होकर बाज़ार चला। जब वह उस मकान के निकट पहुँचा, जिसमें सुखदास रहता था, तो उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह मूर्ख वृद्ध जोलाहा अवश्य बहुत धनी होगा। निःसन्देह उसका धन किसी जगह गड़ा होगा। आश्चर्य है कि मैंने महीप को यह बात कभी न सुझाई कि वह इस जोलाहे से विश्वास पर ऋण लेने का यत्न करे। इस विचार के उठते ही उसने घोड़े की बागडोर घर की ओर मोड़ दी। उसे विश्वास था कि महीप इस सम्मति को सहर्ष स्वीकार कर लेगा, पर न जाने उसके दिल में यकायक क्या आया कि वह फिर पलटकर मार्ग पर चला आया और घोड़े को दौड़ाने लगा। वह रूपवान् था और घोड़े की सवारी में बहुत चतुर था। तेज़ घोड़े पर सवार होने में उसे बड़ा आनन्द मिलता था। जब राहगीर लोग खड़े हो होकर उसे आश्चर्य से देखते, तो वह घोड़े को और तेज़ कर देता था। जब वह बाज़ार पहुँचा, तो सैकड़ों आँखें उसकी ओर उठ गईं। वहाँ पर सैकड़ों घोड़े मौजूद थे, पर इस शान का एक भी घोड़ा न था। वहाँ के सबसे बड़े व्यापारी का नाम साहब ख़ाँ था। वह उसे देखते ही समीप आया और उसका स्वागत करके बोला—"आज तो आप अपने भाई साहब के घोड़े पर सवार होकर आये हैं। यह नई बात है।"

दिलीप—"अब तो यह घोड़ा मेरा है, मैंने उनसे झपट लिया।"

साहब ख़ाँ—"झपट कैसे लिया?"

दिलीप—"ऐसा ही मेरे उनके बीच कुछ हिसाब था, जो एक घोड़ा लेकर तय हो गया।"

यद्यपि दिलीप ने यह नहीं कहा कि मैं घोड़े को बेचना चाहता हूँ, पर साहब ख़ाँ ताड़ गया कि वह उसे बेचने ही के लिए लाया है। उसने दिलीप से कहा—"यदि आप इसे बेचना चाहें, तो आपको इसके अच्छे दाम मिल सकते हैं।"

दिलीप—"मुझे बेचने की इच्छा नहीं, मुझे इसके आज ही ३००) मिल रहे थे।"

साहब ख़ाँ—"यह मत कहो, मैंने आज तक कोई ऐसा मनुष्य न देखा जो ड्योढ़े दाम पाकर घोड़े को बेच न डाले। दाम तो इसके वही १००) होंगे, पर आपको पान खाने के लिए कुछ और मिल जायँगे।"

साहब ख़ाँ ने यह कहा ही था कि उसका एक मित्र घोड़े पर सवार हो गया और उसे दौड़ाकर उसकी चाल देखने लगा। अन्त में साढ़े तीन सौ रुपये पर सौदा तै हो गया, पर शर्त यह थी कि दिलीप घोड़े को साहब ख़ाँ के अस्तबल में पहुँचा दे। दिलीप राजी हो गया। वह उसी वक्त उस अस्तबल की तरफ़ चला, जो वहाँ से ३ मील पर था, ताकि शाम होते होते वह रुपये से जेब गर्म करके किराये के घोड़े पर सवार होकर घर पहुँच जाय। वह एक मील आया होगा कि उसे घुड़दौड़ का मैदान दिखाई दिया। वहाँ घोड़ों के कूदने के लिए टट्टियाँ लगी हुई थीं। दिलीप उमंग में आकर टट्टियाँ कुदाने लगा, पर दुर्भाग्यवश कई टट्टियाँ कूदने के पश्चात् घोड़ा एक टट्टी पर गिर पड़ा। टट्टी की एक लकड़ी उसके कण्ठ में घुस गई, दिलीप भी गिरा, पर उसे थोड़ी चोट लगी। घोड़ा उसी दम तड़प-तड़पकर मर गया।

दिलीप उन मनुष्यों में था, जो किसी हानि पर केवल कुछ ही मिनट तक खेद करते हैं। वह पृथ्वी से उठा। पहले अपनी देख-भाल की कि कहीं उसे चोट तो नहीं आई! उसे घोड़े के मरने का इतना दुःख न हुआ, जितनी यह चिन्ता कि घर क्योंकर पहुँचूँ। उसे महीप के क्रोध का भय भी अवश्य था, पर उसने सोचा, जब मैं उन्हें सुखदास से ऋण लेने की बात सुना दूँगा, तो वे मुझे क्षमा कर देंगे।

वह मन में सुखदास से रुपये लेने के विचार को आशारूप में परिणत करता जाता था। यहाँ तक कि वह साहब ख़ाँ के अस्तबल तक पहुँचा और उसने एक घोड़ा किराये पर लेना चाहा, परन्तु जिस मनुष्य ने अभी अभी एक घोड़े की जान ले ली हो, उसे कौन अपना घोड़ा भाड़े पर देता? दिलीप को विवश होकर लालपुर तक पैदल आना पड़ा। उस समय दिन के ४ बजे थे, आकाश में बादल घिरने लगे थे। उसने बूट कस, हण्टर हाथ में लिया और वह तेज़ी के साथ पक्की सड़क पर चलने लगा।

बादल अधिक घिरते गये, दिलीप भी डग बढ़ाता हुआ लालपुर की सीमा तक आया। उस समय बादल इतने घने हो गये थे कि हाथ नहीं सूझता था। इसी दशा में जब कि वह सुखदास के घर के पास पहुँचा, तो उसके दिल में उससे वर्तालाप करने का विचार उत्पन्न हुआ। वह केवल रुपये के विषय में उसका मन लेना नहीं चाहता था, बल्कि घिरते हुए बादलों से रक्षा भी चाहता था। दरवाज़े के दराज़ से निकलता हुआ प्रकाश उस अन्धकार में उसे बहुत आशाजनक मालूम हुआ। वह उसके घर की ओर चला। उसे आशा थी कि सुखदास के यहाँ से एक लालटेन अवश्य मिल जायगी, जिससे वह अपने घर तक पहुँच सकेगा, क्योंकि उसका मकान अब भी कोई पौन मील की दूरी पर था। वह दो ही चार पग चला था कि ज़ोर से वर्षा होने लगी। तब वह दौड़ता हुआ सुखदास के दरवाज़े पर जा पहुँचा और उसे उच्च स्वर से पुकारने लगा, पर भीतर से कोई उत्तर न आया। इस पर उसने और ज़ोर से पुकारना शुरू किया, पर फिर भी उत्तर न मिला। तब उसने ज़ोर से दरवाज़े पर धक्का मारा। द्वार खुल गया और दिलीप ने अन्दर प्रवेश किया, पर देखा तो घर सूना था। सुखदास का कहीं पता नहीं। चूल्हे में आग जल रही थी और उस पर एक बटुली रखी हुई थी, जिसका बुदबुद शब्द उस सन्नाटे को भंग कर रहा था। दिलीप ने सोचा कि कदाचित् सुखदास कोई आवश्यक वस्तु लाने के लिए बाहर गया है। उस समय यकायक उसके दिल में यह ख्याल पैदा हुआ कि सुखदास के रुपये कहाँ रखे हैं। इस ख्याल के आते ही और सारे विचार उसके दिल से दूर हो गये। ऐसे मकान में केवल तीन ही जगहें ऐसी थीं, जहाँ रुपया रखा जा सकता था। छप्पर, चारपाई, या कोई बिल। सुखदास के मकान में कोई छप्पर था ही नहीं, अतः दिलीप ने बिछौने और पलंग को टटोलना आरम्भ किया। साथ ही भूमि पर दृष्टि दौड़ाई। पर कहीं कोई ऐसी जगह न दिखाई दी, जहाँ रुपये रखने के गुप्त स्थान का सन्देह हो सकता। केवल एक जगह कुछ रेत पड़ी हुई थी जिस पर अँगुलियों के चिह्न बने थे।

इस स्थान को देखते ही दिलीप चौंक पड़ा। उसे भावना हुई कि रुपया यहीं रखा होगा। वह वहाँ लपककर पहुँचा और रेत को हटाकर देखा, तो ईंटें रखी हुई थीं। उसने शीघ्रता से उन ईंटों को निकाल दिया तो एक बड़ी बिल दिखाई दी। दिलीप ने बिल में हाथ डालकर इधर-उधर टटोला, तो उसे एक चमड़े की थैली मिल गई। उसने उसे बाहर निकाल लिया। उसके बोझ से उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि उसमें रुपये और अशर्फियों के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। उसने थैली को एक ओर रखकर ईंटों को भीतर रखा और ऊपर रेत फैलाकर पूर्ववत् कर दिया। उसे यहाँ कुल पाँच मिनट लगे थे, पर यह पाँच मिनट कई घंटों से अधिक मालूम हुए।

दिलीप मारे भय के काँप रहा था और हृदय वक्षस्थल में हाथों उछल रहा था। वह चमड़े की थैली को लेकर खड़ा हुआ और बाहर निकलते ही उसने द्वार बन्द कर दिया कि भीतर का प्रकाश बाहर न आ सके। इस थैली को लिये हुए वह आगे बढ़ा। उस समय अँधेरा भी बढ़ गया था और मूसल-धार पानी बरस रहा था। सुखदास के घर में जाने से पहले उसे यह अँधेरा बुरा मालूम होता था, पर इस समय बहुत ही भला लगा। क्योंकि वह उसके पाप को छिपा सकता था।

चौथा अध्याय

जब दिलीप यहाँ से चला, तो सुखदास उससे १०० पग की दूरी पर था। वह पीठ पर एक बोरा लादे और हाथ में लालटेन लिये गाँव से आ रहा था। यद्यपि वह थका-माँदा था, तो भी गर्म गर्म भोजन की आशा उसे प्रसन्नचित्त बनाये हुए थी। आज भोजन की सामग्री उसे एक ग्राहक ने भेंट की थी, इसलिए वह रूखा न था। सुखदास नियमानुसार रात को भोजन इच्छानुसार भरपेट करता था। क्योंकि उस समय उसकी सम्पत्ति उसकी आँखों के सामने रहती थी।

सुखदास घर से चलते समय ताला लगाना भूल गया था। उसे यह शंका ही न थी कि इस वर्षा में कोई चोर उस घर में आ सकता है। क्योंकि गत १५ वर्षों में एक बार भी उसे इस प्रकार का खटका न हुआ था। द्वार पर पहुँचकर उसने केवाड़ खोले और अन्दर गया। सब चीज़ें ज्यों की त्यों मिलीं। कोई परिवर्तन न दिखाई पड़ा। अग्नि प्रज्वलित थी, खाना पक रहा था और दीपक प्रकाशमान था। उसने बोरा एक ओर रखा, लालटेन दूसरी ओर, और पगड़ी उतारकर खूँटी पर टाँग दी। निश्चिन्त होकर इधर-उधर टहलने लगा, जिससे वे पदचिह्न मिट गये, जो दिलीप रेत पर छोड़ गया था। तब उसने पैर धोये और चौके में बैठकर उसने खिचड़ी की बटुली अपने सामने रख ली।

यदि कोई मनुष्य उसके रूप को अग्नि के प्रकाश में देखता तो अवश्य डर जाता। उसकी गोल, तीव्र आँखें, बिखरे हुए बाल, पीला चेहरा, दुर्बल शरीर उस प्रकाश में और भी भयकारी हो रहे थे। यद्यपि उसे लोग सन्देह की दृष्टि से देखते थे, पर वास्तव में वह नितान्त सरल मनुष्य था। उसके सीधे-सादे हृदयपटल पर कपट का कोई चिह्न न था। चूँकि विश्वास का प्रकाश उसकी आत्मा में लोप हो चुका था, प्रेम में उसे असफलता हो चुकी थी,

अतः वह संसार की सारी बातों को छोड़कर केवल परिश्रम करने और रुपये जमा करने में लिप्त रहता था। मानो यही दो काम उसके जीवन के दो मुख्य उद्देश्य थे।

जब अग्नि के पास बैठे हुए कुछ बिलम्ब हुआ, तो उसने सोचा कि भोजन के बाद अपने धन का निरीक्षण करने में देर होगी। अतः उसने ईंटों को हटाकर बिल में हाथ डाला। वहाँ थैली का पता नहीं था। उसका दिल ज़ोर से उछल पड़ा, परन्तु उसे यह विश्वास न हुआ कि कोई वास्तव में अशर्फियों को चुरा ले गया है। केवल एक शंका का अनुभव हुआ और उस शंका को वह दूर कर देना चाहता था। उसने अपने काँपते हुए हाथों से बिल को खूब टटोला कि कहीं मुझे धोखा तो नहीं हो रहा है। तब उसने बत्ती को बिल में डाल दिया और सिर से पैर तक काँपते हुए उसे ध्यानपूर्वक देखा, अन्त में उसके शरीर में ऐसी कँपकँपी हुई कि लालटेन उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ी। उसने हाथ सिर पर रख लिया कि सावधान होकर कुछ विचार कर सके।

इस घबराहट की दशा में उसके मन में यह प्रश्न हुआ कि गत रात्रि को मैंने अपनी अशर्फियाँ किसी अन्य स्थान पर तो नहीं रख दीं। इस समय उसकी दशा उस डूबते हुए मनुष्य की सी थी जो अँधेरे में टटोल रहा हो और उसे कहीं से प्रकाश न मिलता हो। उसने मकान का कोना कोना ढूँढ़ मारा, बिस्तर उलटकर देखा, करघे में हाथ डालकर देखा, पर अशर्फियों का पता न मिला। अन्त में उसने एक बार फिर बिल में हाथ डाला और उसे अच्छी तरह टटोला, परन्तु भयंकर सचाई से उसे एक क्षण के लिए भी शरण न मिली।

जब कोई मनुष्य निराशा के पञ्जे में फँस जाता है तो वह चारो ओर आशामय दृष्टि दौड़ाता है। सुखदास बड़ी कठिनता से उठा और उसने उस चौकी को देखा जिस पर वह अपने बर्तन रखा करता था। तब वह मकान के दरवाज़े पर आया, फिर पिछवाड़े की तरफ़ गया और चारों तरफ़ आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा, पर अशर्फियाँ कहीं भी नज़र न आईं। जब

वह चारों तरफ़ से निराश हो गया तो उसने अपने सिर पर हाथ रख एक दीर्घ श्वास खींचा। इसके पश्चात् वह कुछ देर तक स्थिर भाव से खड़ा रहा; फिर करघे की ओर लड़खड़ाता हुआ बढ़ा और उस स्थान पर बैठ गया, जहाँ बैठकर काम किया करता था!

सभी प्रकार की झूठी आशाओं के लुप्त हो जाने के बाद चोर का विचार उसके दिल में उठने लगा और इस विचार को उसने बलपूर्वक स्थिर किया। क्योंकि यहाँ उसकी आशाओं को ठहरने का स्थान मिल सकता था। चोर पकड़ा जा सकता था और उससे अशर्फियाँ वापस की जा सकती थीं। वह करघे से उठकर द्वार तक आया। ज्यों ही उसने केवाड़ खोले कि वर्षा का एक झोंका उसके मुँह पर लगा। वह सिर से पैर तक भीग गया। इतनी देर में उसमें विचार करने की शक्ति लौट आई थी। वह सोचने लगा कि चोर किस समय आया। जब मैं दिन को बाहर गया था तो मैंने किवाड़ बन्द कर दिये थे। किसी मनुष्य के पद-चिह्न द्वार के सामने न थे। संध्या समय भी सब वस्तुएँ वैसी ही थीं, जैसी कि दिन में। कोई नई बात न दिखाई दी थी। न तो घर के बाहर और न घर के भीतर। उसने फिर सोचा, यह कोई पैशाचिक लीला तो नहीं है कि जिसने जीवन में दूसरी बार मुझे नष्ट किया। पर यहाँ से उसका विचार शीघ्र ही दूसरी ओर फिरा। लालपुर में दुक्खी नाम का एक अहीर रहता था जो एक बार चोरी का दण्ड पा चुका था। वह सुखदास के यहाँ आया-जाया करता और उसके धन के बिषय में कभी कभी हँसी किया करता था। सुखदास का सन्देह दुक्खी पर हुआ और उसे प्रबल इच्छा हुई कि उसके पास चलकर अपने रुपये वापस लूँ। वह उसे दंड देना या दिलाना न चाहता था। वह न्यायालय से परिचित न था। वह केवल अपने रुपये चाहता था, इसलिए उसने संकल्प किया कि नरेशसिंह के पास चलकर दोहाई दे। वह नंगे सिर और मकान को खुला हुआ छोड़कर पानी में भीगता हुआ गाँव की ओर भागा! परन्तु जब मार्ग में उसका श्वास फूलने लगा तो वह धीरे धीरे चलने लगा।

इस समय नरेशसिंह के चौपाल में गाँव के धनी-मानी पुरुष बैठे हुए थे। इधर-उधर की गपशप हो रही थी। एक महाशय भूतों की कथा सुना रहे थे। चिलम पर चिलम भरी जाती थी और तम्बाकू की सुगन्ध उड़ रही थी। सुखदास कुछ देर तक द्वार पर खड़ा रहा। उसे अन्दर जाने का साहस न हुआ, पर अन्त में वह जी कड़ा करके चौपाल में घुस गया। भूत पिशाच की तो चर्चा हो ही रही थी, अकस्मात् सुखदास हाँफता हुआ नगे सिर पहुँचा तो लोग चौंक पड़े। नरेशसिंह ने पूछा " कहो सुखदास, तुम कैसे चले ? "

सुखदास,—"सरकार मैं लुट गया, मैं आप सब लोगों के सामने दोहाई करता हूँ।"

नरेशसिंह—"दुक्खी, ज़रा इस जोलाहे को पकड़ तो लो। मालूम होता है कि यह सनक गया है।"

यद्यपि दुक्खी सुखदास के सम्मुख ही बैठा था, पर उसने इस आज्ञा का पालन न किया और "बोला वह सनका नहीं है। उसकी चोरी हो गई है और कदाचित् पीटा भी गया है।"

सुखदास ने कहा—"दुक्खी" और वह उसकी ओर विचित्र आँखों से देखने लगा।

दुक्खी ने पूछा—" क्या मुझसे कुछ काम है ?" सुखदास ने हाथ जोड़कर अत्यन्त दीनभाव से कहा "दुक्खी, यदि तुमने मेरे रुपये चुराये हैं, तो मुझे दे दो, मैं तुमसे कुछ न बोलूँगा। मैं पुलीस में भी न लिखाऊँगा, केवल मेरे रुपये लौटा दो। एक अशर्फी भी तुम्हें भेंट कर दूँगा।"

दुक्खी के तेवरों पर बल पड़ गये। उसने सरोष होकर कहा—"मैंने तेरे रुपये चुराये हैं ? यदि ऐसी बात फिर मुँह से निकालेगा तो इस छड़ी से तेरी आँखें फोड़ दूँगा।" नरेशसिंह बोले,—"यदि तुझे कुछ कहना है, तो सावधान होकर क्यों नहीं कहता। तेरी बातें तो कुछ समझ ही में नहीं आती।"

कारिन्दा साहब बोले, " यह इस तरह चिल्ला रहा है, मानो पागल हो गया है।"

कई मनुष्यों ने इस पर कहा, "हाँ, हाँ, इसे बिठाओ।"

नरेशसिंह ने सुखदास को अलग एक माचे पर बिठलाया और जब वह ज़रा सावधान हो गया, तो उससे पूछा, " हाँ, सुक्खू बताओ, अब क्या कहते हो। तुम्हारी चोरी हो गई?"

दुक्खी बोल उठा—" कुशल इसी में है कि यह मुझ पर चोरी का दोष न लगावे।"

नरेशसिंह,—"तुम अपनी ज़बान बन्द करो। हाँ, सुक्खू साफ़ साफ़ बतलाओ।"

सुखदास ने तब अपना वृत्तान्त कह सुनाया। लोग उससे भाँति भाँति के प्रश्न करने लगे। उसने बहुत धैर्य्य से सबके उत्तर दिये, जिससे लोगों को उसकी चोरी हो जाने का विश्वास हुआ। नरेशसिंह बोले,—"सुक्खू! तुम्हारा रुपया चुरानेवाला दुक्खी नहीं है। तुम उस पर सन्देह न करो। वह कल से मेरे दरवाज़े से नहीं टला।"

कारिन्दा—" हाँ हमको किसी निरपराध मनुष्य पर दोष न लगाना चाहिए।"

यह सुनकर सुखदास को वह समय याद आया जब वह स्वयं निरपराध था और उस पर चोरी का अपराध लगाया गया था। वह माचे से उठा और दुक्खी के पास जाकर अत्यन्त दीनता से बोला, "दुक्खी! मुझे क्षमा करो। मुझसे बड़ी भूल हुई। मैंने तुम्हारा नाम केवल इसलिए लिया था कि तुम बहुधा मेरे घर आया करते हो। अब मैं तुमको दोषी नहीं ठहराता।"

नरेशसिंह,—" तुम्हारी थैली में कितने रुपये थे?"

सुखदास,—" कुल २७० अशर्फियाँ थी, मैंने कल शाम को गिनकर रखी थीं।"

कारिन्दा,—" इतने रुपये तो बहुत भारी नहीं होते, इन्हें एक मनुष्य सरलता से ले जा सकता है। रही यह बात कि घर में किसी का पद-चिह्न नहीं है और वह स्थान भी ज्यों का त्यों है, जहाँ तुम्हारी अशर्फियाँ रखी हुई थीं।

यह बात समझ में नहीं आती। मेरी राय तो यह है कि चलकर किसी ओझा से पूछना चाहिए। वह अपने मन्त्रों से अवश्य चोर का पता लगा लेगा।"

नरेशसिंह—"क्या व्यर्थ बातचीत कर रहे हो? चोर पकड़ना ओझा का काम नहीं है, पुलीस का काम है। सुखदास के साथ टाँडे के थाने में जाओ और वहाँ रपट लिखाओ। इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है।"

यद्यपि सुखदास थाने के नाम से डरता था, पर नरेशसिंह के आग्रह से उसे विवश होकर थाने जाना पड़ा। उसकी आशाएँ कोई न कोई सहारा ढूँढ़ती थीं। नरेशसिंह के यहाँ कोई स्थान न पाकर वे थाने की ओर फिरीं। पानी ज़ोर से बरस रहा था। सुखदास कारिन्दा के साथ टाँडे की तरफ़ चला।

पाँचवाँ अध्याय

महीपसिंह रात को पास के एक गाँव में नेवता खाने गया हुआ था, सारी रात नाच-गाना देखता रहा, सुबह को जब वह अपने गाँव में आया, तो देखा कि चारों तरफ़ हलचल मची हुई है। पूछने से विदित हुआ कि सुखदास की चोरी हो गई है। कोई उसकी अशर्फियाँ उठा ले गया है। महीप दयावान् आदमी था, उसे सुखदास पर दया आ गई। चोरी का पता लगाने में यह भी तत्पर हो गया।

प्रातःकाल थानेदार साहब कई कानिस्टबिलों के साथ सुखदास के घर पर आ पहुँचे और उसके भीतर और बाहर प्रत्येक वस्तु को बड़े ध्यान से देखने लगे। फिर मन में कुछ विचार कर उस तालाब की ओर बढ़े, जो सुखदास के घर के पास ही था। तालाब के किनारे वहाँ उन्हें दियासलाई का एक बक्स दिखाई दिया। थानेदार ने लपककर वह बक्स उठा लिया और वे उसे इस भाँति देखने लगे मानो चोरी से उसका कोई गहरा सम्बन्ध है। गाँव के बहुत से आदमी वहाँ जमा थे, उन सबको भी यही ख्याल हुआ। बहुत खोज-पूछ करने पर यह पता चला कि वह डिबिया एक बिसाती की है, जो कई दिन हुए गाँव में सौदा बेचने आया था। उसने सुखदास के घर हुक्का पिया था और उसके हाथों कई चीज़ें बेची थीं। थानेदार साहब अपनी बुद्धि की तीव्रता पर फूलकर बोले, 'क्या उस बिसाती के कानों में बालियाँ भी थीं?'

कारिन्दा ने कहा—'मुझे यह तो स्मरण है कि उसके सन्दूक में बालियाँ थीं, पर यह नहीं कह सकता कि कानों में थीं या नहीं।'

थानेदार—'जब बालियाँ बेचता था तो अनुमान तो यही होता है कि पहिनता भी होगा।'

गाँव में इस बात की जाँच की गई तो कई मनुष्यों ने कहा कि बिसाती के कानों में बालियाँ थीं। एक सत्यवक्ता स्त्री ने कहा कि 'बालियाँ बड़ी बड़ी

थीं।' एक दूसरी स्त्री ने इसका समर्थन भी किया। इसके पश्चात् थानेदार साहब ने उन चीज़ों को इकट्ठा करना शुरू किया, जो उस बिसाती से गाँव-वालों ने मोल ली थीं। उनमें बालियाँ भी निकलीं। तात्पर्य्य यह कि थानेदार साहब को पूरी तरह विश्वास हो गया कि बिसाती ही ने सुखदास की चोरी की है। ग्रामवासियों का भी यही विश्वास था, पर जब सुखदास से पूछा गया, तो उसने कहा कि 'बिसाती मेरे घर आया तो अवश्य था, पर जब मैंने कहा कि मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है तो वह बाहर ही बाहर चला गया था।'

जिन लोगों ने अपने विचार में बिसाती को पूर्णतः दोषी समझ लिया था, उन्हें सुखदास के वचन से बड़ी ही निराशा हुई। कुछ लोग तो उसे मूर्ख और पागल कहने लगे। उस समय नट जाति के लोग बहुधा बिसातियों का वेष धारण करके चोरी किया करते थे और चोरी के साथ हत्या भी करते थे। वह बहुधा कानों में बालियाँ पहिनते थे। पन्द्रह-बीस वर्ष पहिले एक बालियाँ पहिननेवाले मनुष्य को एक हत्या करने के दोष में फाँसी दी गई थी। इन प्रमाणों के देखते हुए, ग्रामवासियों को यह निश्चय करना कठिन था कि वह बिसाती सुखदास का चोर नहीं है। उनके विचार में यह सुखदास की भूल मालूम होती थी। यह भी प्रसिद्ध था कि नट लोग जादू करने में बहुत निपुण होते हैं। अतएव संभव है उस बिसातीरूपी नट ने सुखदास पर कोई जादू करके उसके घर में प्रवेश किया हो और उसकी सम्पत्ति का पता लगाकर अवसर पाते ही उठा ले गया हो।

यद्यपि थानेदार और ग्रामवासियों का यह पूरा विश्वास था, पर महीपसिंह इसके विरुद्ध था। उसने कहा कि 'स्वयं मैंने उस बिसाती से एक कलम खरीदा था। वह सीधा-सादा आदमी मालूम होता था और उसके कान में बालियाँ भी न थीं।'

इसके प्रतिकूल लगभग आधे दर्जन ऐसे मनुष्य थे जो बालियों के सम्बन्ध में थानेदार के सम्मुख इससे कहीं सबल प्रमाण पेश करने पर तैयार थे।

लोगों को सन्देह था कि महीप कहीं थानेदार के पास जाकर यह न कहे कि वे उस बिसाती की गिरफ्तारी का वारंट रोक लें। यहाँ तक कि तीसरे दिन, जब महीप टांडे की ओर चला, तो लोगों को भ्रम हुआ कि वह थानेदार के पास वारंट रोकवाने जा रहा है और कई आदमी उसे रोकने के लिए वाद-विवाद करने लगे।

यद्यपि महीपसिंह को चोरी के विषय में विशेष उत्साह था, पर इस समय वह टांडा नहीं जा रहा था, बल्कि वह दिलीपसिंह की खोज में जा रहा था। उसको सन्देह हो रहा था कि कहीं दिलीप मेरे घोड़े का मूल्य जूये में न हार गया हो और अब कहीं लज्जा से मुँह छिपाये बैठा हो। दिलीप कभी कभी एक एक सप्ताह तक घर से ग़ायब रहता था, इसलिए उसका तीन दिन तक घर से ग़ायब रहना कोई चिन्ता की बात नहीं थी। पर अबकी वह घोड़े के साथ ग़ायब था, इसलिए महीप को इस विषय में बड़ी चिन्ता हो रही थी। अकस्मात् उसे मार्ग में दूर से एक सवार दिखाई दिया। महीप ने समझा कि शायद दिलीप है और मेरे ही घोड़े पर सवार है। पर समीप पहुँचने पर विदित हुआ कि वह घोड़े का व्यापारी साहब खाँ है।

साहब खाँ बोला—'कुँअर साहेब! आपके दिलीपसिंह तो बड़े ही भाग्यवान् आदमी हैं।'

महीप—'क्यों? क्या बात है?'

साहब खाँ—'क्या अभी वे घर नहीं पहुँचे।'

महीप—'अभी नहीं। क्या हुआ? उसने मेरे घोड़े को क्या किया?'

साहब खाँ—'मैं तो समझ गया था कि घोड़ा आपका है, पर उन्होंने तो उसे अपना बताया था।'

महीप—'उसने घोड़े को तो कुछ हानि नहीं पहुँचाई?'

साहब खाँ ने मुस्कराकर कहा—'और तो कोई हानि नहीं पहुँचाई, सिर्फ़ उसकी गर्दन तोड़ दी।'

यह कह करके साहब ख़ाँ ने सारा वृत्तान्त सुना दिया।

महीप—'यह बहुत बुरा हुआ। मुझे सन्देह था कि घोड़े पर कोई न कोई विपत्ति आवेगी, पर उस दग़ाबाज़ के झाँसे में आ गया।'

साहब खाँ—'मेरा ख़्याल है कि वह उस वक्त तक न आवेंगे, जब तक आपका गुस्सा ठंडा न हो जावे। वे कहीं बाहर नहीं, यहीं कहीं आसपास गाँव में छिपे बैठे हैं।'

महीप—'हाँ दो-चार दिन में घूम-घामकर घर आवेगा, और उसे ठिकाना ही कहाँ है।'

साहब खाँ तो 'आदाबअरज' करके बिदा हुआ और महीप घर की तरफ़ लौटा। उसने संकल्प किया कि सारा माजरा चलकर पिताजी से बयान कर दूँ।

नरेशसिंह लंबे-चौड़े बदन के हृष्ट-पुष्ट आदमी थे। यद्यपि उनकी अवस्था साठ वर्ष की हो चुकी थी, पर उनके मुख की कान्ति ज्यों की त्यों थी। उनकी आँखें बहुत तीव्र थीं। उनके वस्त्रों से गँवारपन टपकता था, तब भी उनकी बोली और रंगढंग में कोई ऐसी बात थी, जो दिल पर उनका रोब जमा देती थी। ठाकुर साहब समझते थे कि मेरा भवन, मेरी कुल-मर्य्यादा, मेरा गृह-प्रबन्ध सब उत्तम है। चूँकि वे अपने से धनी मनुष्यों से सहवास न करते थे, इसलिए अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने में मग्न रहते थे। अपनी वास्तविक दशा का ज्ञान उन्हें न होने पाता था।

ज्यों ही महीप उनके सामने पहुँचा, तो उन्होंने पूछा, 'कैसे चले।'

महीप—'मैं आप से कुछ बातें करना चाहता हूँ।'

नरेशसिंह मसनद लगाकर बैठ गये और बोले—'कहो क्या बात है?'

महीप—'परसों मेरे घोड़े की बुरी गति हो गई।'

नरेश—क्या हुआ। क्या उसकी टाँग टूट गई? मैं तो समझता था कि तुम घोड़े की सवारी में निपुण हो। मैंने अपनी ज़िन्दगी में कभी ऐसा नहीं किया। यदि मैं ऐसा करता भी तो दूसरा घोड़ा मोल ले सकता था। मेरे पिता की ऐसी अवस्था थी कि वे इतनी हानि की कुछ परवाह न करते थे। रहा मैं,

सों मेरी हालत तुम देख ही रहे हो। करीम आज ही कह रहा था कि मेरे ऋणग्रस्त होने की चर्चा समाचारपत्रों में हो रही है। उस दुष्ट के यहाँ भी मेरे सौ रुपये आते हैं, पर वह देने का नाम ही नहीं लेता। यदि तुम्हारे घोड़े की टाँग टूट गई है, तो लँगड़े घोड़े पर सवार होना पड़ेगा।'

ठाकुर साहब ये बातें एक साथ कहते चले गये। महीप को कुछ कहने का अवसर ही न मिला। वह बोला, 'उसकी टाँग ही नहीं टूटी, वह तो जान से गया।'

नरेशसिंह—'तो तुमने मुझसे यह बात पहले ही क्यों नहीं कही।'

महीप—'मैंने आपसे इसलिए छिपाया था कि मैं उस घोड़े को बेचकर आपको रुपये देना चाहता था, पर अब मैं असमर्थ हूँ। दिलीप नरसों घोड़े को बेचने के लिए ले गया था। उसने साहब खाँ के हाथ उसे अच्छे दामों पर बेचा भी था, पर घुड़दौड़ के मैदान में वह घोड़े की टट्टियाँ कुदाने लगा। घोड़ा गिरा और मर गया। यदि यह आपत्ति न आ जाती, तो मैं परसों ही आप को सब रुपये दे देता।

'महीपसिंह, तुम क्या कह रहे हो, मेरी समझ में नहीं आता। तुम मुझे कैसे रुपये देनेवाले थे। ऐसी क्या बात हो गई कि तुम मुझसे रुपए लेने के बदले देना चाहते हो।'

महीप—'बात यह है कि मुझसे एक अपराध हो गया है। वह यह है कि करीम ने मुझे सब रुपये उसी दिन दे दिये, जिस दिन मैं उसके पास माँगने गया था। यह रुपये मैंने दिलीप की बातों में आकर उसको उधार दे दिये, पर अब वह लौटाने का नाम ही नहीं लेता। मैंने भी सब्र कर लिया और इरादा किया कि अपना घोड़ा बेचकर, भेद खुलने से पहले ही आपके रुपये अदा कर दूँ, पर बीच ही में यह आफ़त टूट पड़ी।'

अभी महीप अपनी बात समाप्त न करने पाया था कि ठाकुर का रंग क्रोध से लाल हो गया, बोले, 'हाँ खूब, तुमने रुपये दिलीप को क्यों दे दिये? क्या तुम भी उसके साथ आवारा हो गये? तुम्हारा उसके साथ इतना मेल-

जोल कैसे हो गया। क्या तुम भी उसी रास्ते पर चलना चाहते हो? यदि तुम बाज़ न आये तो मैं तुम दोनों को घर से बाहर निकाल दूँगा और अपनी दूसरी शादी कर लूँगा। तुम्हें इस जायदाद की एक पाई भी न मिलेगी। आख़िर तुमने दिलीप को रुपये क्यों दे दिये? इसमें कोई न कोई भेद है।'

महीप—'इसमें भेद कुछ नहीं है। केवल मुझसे भूल हो गई कि मैंने दिलीप को रुपये दे दिये। मैं आपकी एक कौड़ी भी फिजूल नहीं ख़र्च करता। मेरा इरादा था कि रुपया आपका अदा कर दूँ। मैंने रुपया खाया नहीं, बस वास्तविक सच्ची बात यही है।'

नरेशसिंह—'दिलीप है कहाँ? खड़े खड़े बातें क्यों बना रहे हो? जाकर उसे पकड़ क्यों नहीं लाते? मैं उससे पूछूँ कि उसने किस काम के लिए रुपये लिये हैं। अगर उसने ठीक-ठीक जवाब न दिया तो उसे घर से निकाल दूँगा। अवश्य निकाल दूँगा।'

महीप—'वह तो अभी लौटकर नहीं आया।'

नरेशसिंह—'तो क्या उसकी भी गर्दन टूट गई?'

महीप—'जी नहीं। उसके तो कहीं चोट भी नहीं आई। वह भय के मारे कहीं चला गया होगा। कुछ दिनों में स्वयं आ जायगा।'

नरेश—'उसने कुछ बतलाया नहीं कि किस काम के लिए रुपये ले रहा है?'

महीप—'उसने मुझे कुछ नहीं बतलाया।'

नरेशसिंह—'जब तक दिलीप न आवे, इस विषय में मुझसे बातचीत न करो।'

छठा अध्याय

टाँडे और लालपुर में थानेदार ईसा खाँ बहुत चतुर समझा जाता था। वना साक्षी के मुक़दमे की तह तक पहुँच जाता था। यद्यपि उस दियासलाई की डिबिया का सुखदास की चोरी से कुछ भी सम्बन्ध न था, पर ईसा खाँ के मन में यह बात जमी हुई थी कि यह डिबिया ही सब कुछ है। इतने चतुर होने पर भी वह ऐसे विसाती को खोजता रहा जिसका नाम तक न मालूम था। हाँ उसके केश श्याम और घूँघरवाले थे, जो छुरी, कैंची और छोटे-मोटे गहने बेचता फिरता था और कानों में बालियाँ पहने हुआ था। पर या तो खोज में बहुत तत्परता न थी और या यह हुलिया किसी विशेष विसाती का नहीं, वरन् सभी विसातियों का था। इसलिए किसी एक विसाती पर दोषारोपण करना कठिन था। अतएव लालपुर के लालबुझक्कड़ का उत्साह ठण्डा हो गया और थानेदार साहब भी हारकर बैठ रहे।

दिलीपसिंह पर किसी को भूलकर भी सन्देह न हो सका था कि वह सुखदास के घर चोरी करेगा। यद्यपि वह आवारा था, पर चोरी करने की आदत का कोई परिचय न था।

चोरी के पश्चात् सुखदास के विचारों में एक अद्भुत परिवर्त्तन हुआ। यद्यपि उसका करघा और घर वर्तमान थे, वह कपड़े भी बुनता था, पर वे अशर्फियाँ, जिन्हें रोज रोज प्रति संध्या को देखकर प्रसन्न होता था, नहीं थीं बल्कि चोरी गये धन का ध्यान दिलाकर दिल पर और भी चरके लगाती थीं। वह काम करने में बहुधा कराहने और ठंडी स्वास भरने लगा था। संध्या समय जब वह काम से छुट्टी पाता, तो दोनों घुटनों पर दोनों कुहनियाँ टेककर और दोनों हाथों से सिर पकड़कर बैठा रहता। उस समय वह केवल अपनी सम्पत्ति के विचार में मग्न रहता और कभी कभी दबी हुई आहें भरता था।

नगरनिवासियों को भी उससे सहानुभूति हो गई थी। वह गाँव में जाता, तो लोग उसे अपने पास बिठलाकर बातें करते, उसकी चोरी का हाल पूछते और कहते कि यदि तुम दरिद्र हो जाओगे तो हम तुम्हारी सहायता करेंगे। यहाँ तक कि लोग उसे कभी कभी भोज्य पदार्थ भी दे देते थे।

लालपुर में एक छोटी सी पाठशाला भी थी। अध्यापक का नाम सन्त-सिंह था। वह ठाकुर नरेशसिंह का कोई दूरी रिश्तेदार भी था। उसकी स्त्री का नाम दयामयी था। एक दिन सन्तसिंह ने आकर सुखदास से कहा, 'भाई मन्दिर क्यों नहीं आते हो, तुमसे और लोगों से मेल-मिलाप होगा, तुम्हारा शोक दूर हो जायगा।'

सुखदास ने उत्तर दिया, 'मुझे मन्दिर में घुसने कौन देता है?'

सन्तसिंह--'मैं तुम्हें भीतर जाने को थोड़े ही कहता हूँ। बाहर सायबान में बैठे रहना, वहीं चरणामृत मिल जायगा।'

अन्य कई सज्जनों ने भी सुखदास को मन्दिर आने के लिए ज़ोर दिया। लोग किसी तरह उसके दुख को भुलवाना चाहते थे, पर सबसे अधिक सहानु-भूति दयामयी ने प्रकट की। वह बड़ी दयावती स्त्री थी। एक दिन वह अपने पुत्र के साथ कुछ भोज्य पदार्थ लेकर सुखदास के घर पर आई। सुखदास ने उसकी आवाज़ सुनते ही केवाड़ खोल दिये और उसके बैठने को आसन डाल दिया। दयामयी ने बैठते ही कहा 'सुक्खू यह लो, मैं तुम्हारे लिए कुछ लाई हूँ। सुखदास ने अत्यन्त दीनता से हाथ फैलाया। उस समय दयामयी को उस पर बड़ा ही तरस आया, बोली, 'तुम्हारा यहाँ अकेले में बहुत जी घब-राता होगा।'

'हाँ घबड़ाता तो है, पर क्या करूँ।'

दयामयी—'क्यों, मन्दिर क्यों नहीं आया करते? मगर तुम इतनी दूर रहते हो कि शायद तुमको मन्दिर के घंटे का शब्द भी न सुनाई देता होगा।'

सुखदास—'नहीं, शब्द क्यों नहीं सुनाई देता, पर वहाँ जाने को हमारा जी ही नहीं चाहता। मुझे देवताओं पर श्रद्धा ही नहीं है।'

दयामयी—'हाय हाय, कैसी बातें करते हो। तुम मन्दिर में आके देखो तो दो ही चार दिन कीर्तन सुनोगे तो तुम्हारी श्रद्धा जाग उठेगी। तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा।'

होली का दिन था। लालपुर में लोग भंग और शराब पी पीकर नाचते-गाते फिरते थे। कहीं नकलें होती थीं। नरेशसिंह के मकान पर भंग का पौसरा चल रहा था। मन्दिरों में भी आज भजन की जगह कबीर और फाग गाई जा रही थी। सारे गाँव में ऐसा कोई भी मनुष्य न था, जो आमोद-प्रमोद में मग्न न हो। अगर कोई था, तो सुखदास था। सुखदास ने, जो प्रेम और विश्वास से वंचित हो चुका था, कभी किसी का अहित नहीं किया, कभी छल-कपट नहीं किया। उसने केवल परिश्रम से धनोपार्जन करना ही अपने जीवन का अभीष्ट बना लिया था, पर हाय यह रुपये भी जो १५ वर्ष की गाढ़ी कमाई के फल थे, उसके हाथ से निकल गये। आत्मिक सन्तोष का जो निर्बल सहारा रह गया था, वह भी जाता रहा। संध्या हो चुकी थी, वह अपने द्वार पर उदास मन मारे बैठा था। उस आनन्द और उल्लास में वह कभी नहीं शरीक हुआ और न अब हो सकता था। मालूम होता है कि मन से प्रेम और हर्ष का लोप हो गया। प्राण निकल गया, केवल मृत शरीर रह गया है।

सुखदास इसी दशा में बैठा था कि दयामयी अपने छोटे लड़के को गोद में लिये आ पहुँची और बोली—'कहो सुक्खू, कैसे उदास बैठे हो? ज़रा गाँव में चले जाते तो चित्त बहलता, यह लो मैं तुम्हारे वास्ते कुछ पकवान लेती आई हूँ।'

सुखदास—(थाल लेने को हाथ बढ़ाते हुए) "कहाँ जाऊँ, कहीं जाने को जी नहीं चाहता। मेरी आदत ही ऐसी है।"

दयामयी—"एकान्त में बैठे बैठे तुम्हारा जी घबराता होगा। और हरदम उन्हीं रुपयों की ओर ध्यान रहता होगा। जो चीज़ हाथ से निकल गई, उसके लिए सोच करने से क्या होगा। भगवान की ऐसी ही इच्छा थी। वही देते भी हैं, वही छीन भी लेते हैं। हम माया के फेर में पड़कर नाना प्रकार के दुःख भोगते हैं।

सुखदास ने १५ वर्ष हुए, ईश्वर का ध्यान करमा छोड़ दिया था। वह भूल गया था कि ईश्वर भी कोई चीज़ है। बिना किये हुए पाप के दण्ड ने श्रद्धा और भक्ति को उसके हृदय से मिटा दिया था। इस समय ईश्वर और माया की बात सुनकर उसके मन में श्रद्धा का भाव जाग्रत् नहीं हुआ। उसने उदासीनता से कहा, "इन बातों से मेरे चित्त को शान्ति नहीं होती।"

दयामयी—"कैसी बात कहते हो सुक्खू, और तुम्हारे चित्त को किस बात से शान्ति होगी। संसार में कोई काम अपने मन से थोड़े ही हो जाता है। ईश्वर ही करते हैं और वह हमारे पूर्वजन्म के कर्मों का फल होता है। जिसे तुम हानि समझते हो वह वास्तव में हानि है, यह कौन जानता है? सम्भव है ईश्वर ने तुम्हारे मन से शोक को दूर करने के लिए ही यह लीला की हो। यह धन नहीं था, तुम्हारा वैरी था। इसी के कारण तुम ईश्वर से भी बेसुध हो गये थे। और कौन जानता है आज उसने तुम्हारा धन हर लिया तो कल तुमको उससे भी बहुमूल्य कोई चीज़ दे दे।"

सुखदास उत्सुक होकर बोला, "क्या सचमुच यह सम्भव है? वह मुझे मेरा गया हुआ धन दे देगा?"

दयामयी—हाँ उसकी लीला अपरम्पार है, पर पहले वह यह देखेगा कि तुम्हारे चित्त से लोभ गया या नहीं। जब तक तुम लोभ में पड़े रहोगे वह तुम्हें कुछ न देगा। भक्ति करो, उपासना करो, वह तुमसे प्रसन्न हो जायगा।"

सुखदास—"कैसे भक्ति करूँ?"

दयामयी—"मन्दिर में जाओ, कथा-पुराण सुनो, चरणामृत लो, अपने से जो कुछ बन पड़े, दूसरों की सेवा करो, यही उसकी उपासना है।"

सुखदास—"तब मेरे रुपए मिल जावेंगे?"

दयामयी—"अभी तुम रुपयों को लिये हो, वह न जाने तुमको क्या दे देगा। मेरा यही छोटा लड़का रामधन महीनों से बीमार था, कोई आशा ही नहीं थी। एक दिन मैं इसे लेकर ठाकुरजी के सामने गई और विनय करके बोली—जब तक यह अच्छा न हो जावेगा, मैं तुम्हारे द्वार से न हटूँगी।

आधी रात तक वहीं बैठी रही। सब लोग चले गये। केवल पुजारीजी रह गये। मुझे भी थोड़ी झपकी आने लगी थी कि इतने में इसने आँखें खोल दीं और बोला, "अम्माँ, कुछ खाने को दो, भूख लगी है।" पुजारी ने थोड़ा-सा प्रसाद दे दिया। इसने वहीं बैठे बैठे खाया और बस चंगा हो गया। तब से आज तक इसका सिर तक नहीं दुखा। वे भक्तवत्सल हैं। अपने भक्तों की सदा रक्षा करते हैं। बेटा धन्नी, सुक्खू को अपना एक भजन तो सुना दो।"

रामधन ने सुखदास की ओर सन्देहात्मक दृष्टि से देखा और वह माँ के पीछे मुँह छिपाकर खड़ा हो गया।

दयामयी—"सुना दो बेटा, अब यही अच्छा नहीं लगता। सुक्खू, तुम इसका भजन सुनकर प्रसन्न हो जाओगे। कोयल की तरह चहकता है।"

रामधन की झिझक कुछ कम हुई। वह प्रशंसा सुनकर अपनी योग्यता प्रकट करने के लिए तैयार हो गया। ज़मीन पर पाल थी, झारकर बैठ गया और यह भजन गाने लगा—'प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो।'

जब भजन समाप्त हो गया तो दयामयी ने सुखदास से पूछा—"इसकी आवाज़ कैसी प्यारी है?"

सुखदास ने विरक्त भाव से कहा, "हाँ, बहुत अच्छा गाता है"

दयामयी—"तो आज ठाकुरद्वारे जाओगे? वहाँ खूब भजन होंगे। कई गाँव से गवैये, भजनीक आये हुए हैं। ठाकुर नरेशसिंह आज दिल खोलकर ख़र्च कर रहे हैं।"

यह कहकर दयामयी चली गई। गाँव से मृदंग की ध्वनि आ रही थी, पर सुखदास द्वार पर बैठा आकाश की ओर ताकता रहा। उसने केवाड़ भी न बन्द किये। अब किसलिए दरवाज़े बन्द करता? वह अन्धकार जो उसके हृदय में हो गया था, ज्यों का त्यों छाया रहा।

सातवाँ अध्याय

दिलीपसिंह का विवाह तीन साल पहले एक बड़े ज़मींदार की लड़की से हुआ था। उसका नाम सबलसिंह था। नरेशसिंह को दहेज में कई हज़ार रुपए मिले थे। इतने उच्च कुल में विवाह करके वे फूले न समाये थे। बहू विवाह ही में बिदा हो आई थी और साल भर ससुराल में रही थी, किन्तु इसी बीच में नरेशसिंह को उसके सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें मालूम हो गईं कि उन्होंने बहू को एक दिन भी अपने घर में रखना पसन्द न किया। वह सबलसिंह की विवाहिता स्त्री से न थी, वरन् एक ब्राह्मणी से थी जिसे सबलसिंह ने बिठा लिया था। इस दशा में नरेशसिंह उसे अपने घर में बहू बनाकर समाज के दोषी क्यों बनते ? तुरन्त उसे मैके भेज दिया और दिलीपसिंह को कड़ी ताकीद कर दी कि वह अपनी ससुराल जाने का कभी नाम न ले। दिलीप उस स्त्री को चाहता था, पर समाज के दोषी बनने का साहस उसमें भी न था। अतएव वह अभागिनी दो साल से मैके में रहती थी।

पर दुर्भाग्यवश उसके जाने के दो-तीन मास बाद उसकी ब्राह्मणी माता का देहान्त हो गया और छठे महीने में सबलसिंह ने भी संसार त्याग दिया – उन्हें एक विषधर सर्प ने काट लिया। माता-पिता के उठ जाने के बाद इस अबला का मैके में कोई अपना न रह गया। सबलसिंह के पुत्र और समस्त परिवार के लोग उससे पहले ही से जलते थे। अब उसे नाना प्रकार के दुःख देने लगे। मुसीबत पर मुसीबत यह और पड़ी कि उसके एक पुत्री उत्पन्न हो गई। वह स्वयं प्रसूतज्वर से पीड़ित रहने लगी। न कोई वैद्य, न कोई औषधि, यहाँ तक कि कोई बातों से भी दिल को ढारस देनेवाला न था। उस पर नित्य जली-कटी बातें सुननी पड़तीं। इससे ज्वर की ज्वाला और भी तेज़ होती थी। दिनोंदिन ज्वर बढ़ता गया, वह क्षीण होती गई, यहाँ तक कि उठना-बैठना मुशकिल हो गया। बेचारी अकेले ज्वर में पड़ी हुई अपने नसीब को

रोया करती। लड़की की चिन्ता उसे और भी खाये जाती थी। मेरे पीछे स अनाथ की क्या गति होगी, यह सोचकर उसकी आँखों से आँसू की झड़ी लग जाती और हृदय तड़पने लगता।

अन्त में जब उसे अपने जीवन की कोई आशा न रही तो उसके मन में पति के अंतिम दर्शन की बड़ी प्रबल आकांक्षा हुई! वह उसके चरणों पर सिर रखकर इस कन्या को उसकी गोद में रख देना चाहती थी। यह एक मात्र उसकी जीवनाभिलाषा थी। उसका मन कहता था कि वहाँ इस कन्या पर लोगों को अवश्य दया आयगी। कम से कम उसका पिता तो रक्षा करेगा।

एक दिन रात को वह उठी और लालपुर चली। लड़की को गोद में लिये हुए एक-एक पग चलना दुस्तर था, किन्तु पतिस्नेह और ममता उसके पैरों को बढ़ाये लिये आती थी। वह दो-तीन कोस आई होगी कि दिन निकल आया। उससे अब एक क़दम भी नहीं चला जाता था। कुछ देर एक तालाब के किनारे दम लेकर वह फिर चली और संध्या होते होते लालपुर के निकट आ पहुँची। अँधेरा हो गया था, पैरों में खड़े होने की शक्ति न थी, भूख, प्यास, और ज्वर की आँच ने शरीर को जर्जर कर दिया था। वह थककर एक वृक्ष के नीचे बैठ गई। उसे मालूम हो गया कि अब मैं कुछ क्षणों की और मेहमान हूँ। पर उस अन्धकार में चारों ओर सन्नाटा था, उसकी निर्बल ध्वनि किसके कानों में पहुँचती? कितना विषादमय दृश्य है! अगर वह दो सौ क़दम और चल सकती तो उसे सुखदास का मकान मिल जाता। उसका दीपक अभी तक वहाँ से जलता हुआ दिखाई देता था। और यद्यपि वह अपने पति से भेंट न कर सकती, पर उस कन्या को सुरक्षा में छोड़ जाने का संतोष प्राप्त कर लेती। पर वह वहाँ से किसी प्रकार न उठ सकी। उसकी आँखें बन्द हो गईं, हाथ-पाँव ऐंठने लगे और कंठ रुँध गया। एक क्षण में उसके प्राण इस दुःखसागर से प्रस्थान कर गये। मन की आशा मन ही में रह गई।

अबोध बालिका कुछ देर तक तो 'अम्माँ-अम्माँ' पुकारती रही, पर जब वह ज़रा भी न मिनकी तो लड़की को भय लगने लगा। माता के शुष्क स्तन

को चबाते चबाते वह निराश हो गई थी। निदान अंधकार के भय, क्षुधा, और परिचित मनुष्यों से मिलने की आशा उसे उस दीपक की ओर ले चली जो वह जलता हुआ देख रही थी। यह कहना कठिन है कि माता के जीवित रहते हुए वह इतनी बुद्धिमत्ता दिखा सकती, पर संकट में सोई हुई शक्तियों को चैतन्य कर देने की विशेष शक्ति है। वह उस निःशब्द अंधकार में गिरती-पड़ती, आशारूपी दीपक की ओर टिकटिकी लगाये चली आती थी। नहीं, इस कठिन यात्रा का कारण केवल स्वार्थ नहीं था। उसे अपनी माता के विषय में एक अव्यक्त शंका भी थी। उसका अज्ञान हृदय कह रहा था कि माता अवश्य बड़े संकट में है और उसे किसी की सहायता की ज़रूरत है।

सुखदास लालटेन जलाये अपने दरवाज़े पर चुपचाप बैठा हुआ था। यही समय उसके अशर्फ़ियों के गिनने का था। इस वक्त वह नितान्त शोक में डूब जाया करता था। अकस्मात् उसने एक गोरी गोरी नन्हीं सी लड़की को प्रकाश में द्वार की तरफ़ आते देखा तो वह चौंक पड़ा। वह अशर्फ़ियों की चिन्ता में ऐसा मग्न था कि उसे भ्रम हुआ, मानो मेरी अशर्फ़ियाँ ही यह रूप धारण करके मेरे पास आ रही हैं। सुखदास को पहले दो-बार एक गुप्त शक्ति का अनुभव हो चुका था, जो उसके भाग्य की विधाता बनी हुई थी। अब फिर उसे भ्रम हुआ कि मानो वही दैविक शक्ति उसको यह अद्भुत चमत्कार दिखा रही है। उसने उस लड़की को गोद में उठाना चाहा, पर वह न आई और उँगलियों से उस तरफ़ इशारा करने लगी, जिस तरफ़ उसकी माँ पड़ी थी। सुखदास पहले तो कुछ समझ न सका, पर जब लड़की ने बार बार उसका हाथ पकड़-पकड़कर उस तरफ़ इशारा करना शुरू किया तो वह लड़की का मतलब समझ गया। वह उसके साथ हो लिया। लड़की फिर अन्धकार की तरफ़ चली, यहाँ तक कि वह उन झाड़ों के पास पहुँच गई, जहाँ उसकी माता पड़ी थी। यद्यपि माता प्रत्यक्षतः नींद में थी, पर वास्तव में सदैव के लिए सो गई थी। बालिका उसके पास खड़ी होकर 'अम्माँ-अम्माँ'

कहने लगी। सुखदास ने झुककर ध्यानपूर्वक देखा तो उसे झाड़ी के नीचे एक स्त्री पड़ी हुई दिखाई पड़ी।

इधर तो वह बेचारी सुधर्मा मरी हुई पड़ी थी और उधर नरेशसिंह के घर पर उत्सव मनाया जा रहा था! सुखदास इस घटना की सूचना देने के लिए सीधा उनके भवन की ओर चल दिया। जिस कमरे में आनन्दोत्सव हो रहा था, उसमें दो दरवाज़े थे। सुखदास ने एक द्वार से प्रवेश किया और वह लड़की को लिये हुए उनके सामने जाकर खड़ा हो गया। नरेशसिंह ने सुखदास को डाँट बताकर कहा, "अरे तू इस समय यहाँ क्यों आया?"

सुखदास—"आप ही के पास आया हूँ। ज़रा वैद्यजी को मेरे साथ कर दीजिए।"

नरेशसिंह—"क्यों, क्या बात है।"

सुखदास—"एक स्त्री तालाब के पास एक झाड़ी के नीचे बेसुध पड़ी हुई है।"

कई आदमियों ने सुखदास को चारों ओर से घेर लिया और वे पूछने लगे, "यह किसकी लड़की है? कौन स्त्री मर गई है? किसका बच्चा है?"

सुखदास लड़की को हृदय से लगाये हुए चुपचाप खड़ा था, किसी को जवाब न देता था। इतने ही में वैद्यजी आ गये। उन्होंने सुखदास से कुछ बातें कीं और तब वे उसके साथ हो लिये। महीपसिंह को भी कुतूहल हुआ। वह भी उनके साथ चला।

वैद्यजी उस स्थान पर पहुँचे और उन्होंने उस स्त्री का निरीक्षण किया। उसका प्राणान्त हो चुका था। सुखदास ने चिन्तित होकर पूछा, "क्या अब कोई आशा है?" वैद्यजी ने सिर हिलाकर जवाब दिया, "अब ब्रह्मा भी आयें, तो कुछ नहीं कर सकेंगे।"

महीप—"कुछ मालूम होता है कि कैसे मरी?"

वैद्यजी—"मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि यह बहुत दिनों से बीमार थी। इसका शरीर कितना दुर्बल है। पुराना ज्वर था। कोई बहुत दीन स्त्री है।"

अब क्या हो सकता था, वहीं दाहक्रिया का प्रबन्ध किया गया। कफ़न के कपड़े न थे। सुखदास दौड़ा हुआ घर गया और कपड़े लाया। चिता तैयार हो गई। पर आग कौन दे, इस प्रश्न पर देर तक विवाद होता रहा। कोई कहता था, यह ब्राह्मणों का काम है, पर वहाँ कोई ब्राह्मण न था। वैद्यजी खड़े मुँह ताकते रहे। महीप से भी कुछ न बन पड़ा। अन्त में महीपसिंह वैद्य के साथ चल दिये, तो सुखदास ने स्वयं जाकर चिता में आग लगा दी। एक क्षण में आग की ज्वाला उठी और सारा शरीर जलकर भस्म हो गया। किसी को यह ख़बर न हुई कि यह स्त्री कौन थी और कहाँ से आई थी। उसी समय जब कि यहाँ चिताज्वाला का प्रकाश फैला हुआ था, ठाकुर साहब का दीवान-ख़ाना मोम की बत्तियों से जगमगा रहा था! यही संसार की गति है!

दस दिन तक सुखदास मृतक-संस्कारों में फँसा रहा। लोगों को कुतूहल होता था कि सुखदास जिसकी किसी से रास-बास न था, क्यों एक अपरिचित स्त्री की दाहक्रिया करने पर, प्रस्तुत हो गया। इतना ही नहीं वह उसका संस्कार भी प्रथानुसार कर रहा है। मगर सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह थी कि वह उस छोटी सी बालिका का लालन-पालन क्यों कर करता है? वह जो मनुष्यों से भागता था, जिसकी सूरत देखकर गाँव के बालक डर जाते थे, जो एकान्त में विरक्त जीवन व्यतीत करता था, जिसने कि कभी शिशुपालन का अनुभव नहीं किया था, वह इस लड़की से क्योंकर इतना प्रेम करने लगा? उसे इस अनाथा पर क्यों इतनी दया आ गई?

दयामयी एक दिन सुखदास के घर पर यह विचित्र दशा देखने गई। संध्या का समय था, सुखदास चूल्हे के सामने बैठा हुआ खिचड़ी पका रहा था और बालिका एक कटोरे को लकड़ी से बजाकर प्रसन्न हो रही थी। आग की ज्योति से उसका फूल-सा चेहरा चमक रहा था। दयामयी ने उसे एक नारंगी दी। कृष्णा माँ की गोद से उतरकर धीरे-धीरे लड़की के पास गया। पहले दोनों कुछ सकुचते रहे, फिर साथ-साथ कटोरे को बजाने लगे। दयामयी

बोली—" सुक्खू, तुम्हें इस लड़की से बड़ा कष्ट होता होगा, लाओ मैं इसे अपने घर ले जाऊँ। वहाँ बच्चों के साथ इसका मन बहलता रहेगा।"

सुखदास ने लड़की का नाम ज्ञानी रखा था। उससे पूछा। "क्यों ज्ञानी, इनके घर जायगी ?"

ज्ञानी दौड़कर सुखदास से लपट गई और उसने उसकी पीठ पर सिर रखकर मुँह छिपा लिया।

दयामयी—"तुम तो बहुत जल्द हिल गईं।"

सुखदास—"भगवान की कुछ यही इच्छा है।"

इसके १५ वें दिन महीपसिंह ने सुखदास के पास जाकर कहा—"ए सुक्खू मेरी बात मानो। इस लड़की को पुजारीजी के सुपुर्द कर दो।"

सुखदास ने गम्भीर भाव से कहा—"महाराज ! मुझे यह लड़की भगवान ने दी है। मैं इसे अब नहीं छोड़ सकता। मेरी अशर्फियाँ न जाने कहाँ चली गईं और यह लड़की न जाने कहाँ से आ गई। जिस ईश्वर ने मेरे रुपये हर लिये थे, उसी ने मुझ पर दया कर यह लड़की मेरे आँसू पोंछने के लिए भेज दी है। मानो मेरी अशर्फियों ही ने यह रूप धारण किया है। यह लड़की चली गई तो मेरे प्राण भी चले जायँगे।"

महीप ने अधिक आग्रह नहीं किया। चलते समय उन्होंने सुखदास को १५) रु० दिये और कहा—"इसके लिए कुछ खिलौने-मिठाई आदि ले लेना। जब फिर ज़रूरत हो, मुझसे माँग लेना।"

सुखदास महीपसिंह की दयालुता से गद्‌गद हो गया। वह रुपये न लेना चाहता था, पर महीप ने न माना।

क्या वास्तव में महीप इतना दयाशील था ? नहीं यह बात न थी। आज दिलीपसिंह की ससुराल से एक नाई आया था, उससे महीप को सब समाचार मिल गये थे। उसे अब कोई सन्देह न था कि यह स्त्री दिलीपसिंह की पत्नी थी और बालिका उसकी लड़की है। उसने नाई को अपने पिता के पास न जाने दिया था। क्योंकि इस समाचार से ठाकुर साहब को और भी लज्जा

तथा दुःख होता। नाई को ऊपर ही ऊपर लौटा दिया था। यही कारण था कि उस लड़की पर, जो उसकी सगी भतीजी थी, उसे इतनी दया आई थी। उसमें इतना नैतिक बल न था कि लड़की को खुल्लमखुल्ला अपना लेता, अतएव वह अपनी दुर्बलता को इसी अनाथरक्षा की आड़ में छिपाता था।

सुखदास जो कभी भूलकर भी मन्दिर न जाता था, अब उस बालिका की प्राणरक्षा के लिए नित्य मन्दिर जाने लगा। उसकी अशर्फ़ियाँ जिन पर वह जान देता था, उसे प्रत्यक्ष कोई लाभ न पहुँचाती थी, पर इस बालिका ने उसके जीवन में एक विशेष रंग पैदा कर दिया—उसका सम्बन्ध सांसारिक बातों से करा दिया।

बालिका ज्यों ज्यों बढ़ती गई, सुखदास के जीवन में भी उसी प्रकार परिवर्तन होता गया। अब वह बहुत कम एकान्तवास करता है। नित्य संध्या समय उस लड़की को हवा खाने के लिए ले जाता, फूल चुनता और उसके बालों में गूँथता। और लोगों से भी उसका प्रेम बढ़ने लगा।

वयोवृद्धि के साथ साथ ज्ञानी में चञ्चलता का भी प्रकाश होने लगा। वह भिन्न भिन्न प्रकार से सुखदास को तंग करती। बहुधा घर से निकल जाती और सुखदास को घंटों परेशान करती। यद्यपि वह कभी कभी उस पर झुँझलाकर मारने के लिए तयार हो जाता, पर उसे उससे इतना प्रेम था कि एक ही क्षण में उस पर दया आ जाती और उसके हाथ न उठते। पन्द्रह वर्ष के बाद सुखदास का लालपुर के निवासियों से मेल-जोल होने लगा। गाँव के बच्चे जो पहले सुखदास के पास आते हुए डरते थे, अब ज्ञानी के कारण उसके घर में घुसे रहते। वह अब किसी बच्चे को डराकर भगाता न था। ज्ञानी की तोतली बातें और उसके पालन-पोषण में वह ऐसा लिप्त हो गया कि उसे अपने लुप्त धन का ध्यान भी न रहा।

यद्यपि लालपुर के अन्य लोग भी ज्ञानी पर तरस खाते थे, क्योंकि वह बालिका अनाथा थी, पर सबसे अधिक प्रेम महीपसिंह को था। वे बहुधा ज्ञानी के लिए कोई न कोई चीज़ भेजते ही रहते थे।

आठवाँ अध्याय

वसन्त ऋतु है और शिवरात्रि का शुभ दिन है। आज ज्ञानी को सुखदास के घर आये हुए १५ वर्ष पूरे हो गये थे। लोग तालाब में स्नान करके शिवजी को जल चढ़ाने के लिए जा रहे हैं। कुछ लोग पूजन करके निकले आते हैं। सुखदास और ज्ञानी भी उन्हीं में हैं। सुखदास के रूपरंग में बहुत अन्तर आ गया है। उसकी कमर झुक गई है। केश बहुत श्वेत हो गये हैं। उसके पीछे पीछे एक नवयुवती सुन्दरी हाथों में लोटा लिये, सिर झुकाये चली आती है। यही ज्ञानी है। उसकी लटें कंधों पर छिटकी हुई हैं। शरीर कोमल है, पर ख़ूब भरा हुआ। ज्ञानी ने कहा, "पिताजी आज फूलों के लिए कितना कष्ट उठाना पड़ा। मैं चाहती हूँ कि अपने मकान के आगे एक बगीचा लगाऊँ, जिसमें भिन्न भिन्न प्रकार के फूल हों। मुझे दयामयी की वाटिका बहुत अच्छी लगती है।"

सुखदास—"बहुत अच्छी बात है। मैं संध्या समय काम से छुट्टी मिलने के पश्चात् थोड़ी देर तुम्हारी वाटिका बनाया करूँगा। इसी तरह प्रातःकाल काम करके पहले कुछ देर काम कर लिया करूँगा। तुमने मुझसे पहले ही क्यों नहीं कहा?"

ज्ञानी—"तुमसे इतना परिश्रम कैसे होगा? ज़मीन खोदना, नई मिट्टी लाना, पाँस डालना यह सब तुमसे न होगा। मैं स्वयं यह सब करना चाहती हूँ। तुम्हें कष्ट न दूँगी।"

इतने ही ही में एक नवयुवक पीछे से आ गया। यह दयामयी का पुत्र कृष्णसिंह था। उसने कहा, "क्या बात है, मैं भी सुनूँ।"

सुखदास—"तुम भी आ गये। ज्ञानी मकान के सामने एक वाटिका लगाने की बातचीत कर रही थी।"

कृष्ण—"यह प्रस्ताव तो मैं आप करनेवाला था। जब से महीपसिंह ने यह मकान बनवाया है, तभी से मेरे मन में यह बात आती रही है कि यहाँ एक वाटिका लग जाती तो अच्छा होता।"

सुखदास—"पर इस गाँव का तो हाल जानते हो। जहाँ मजदूर खोजने से भी नहीं मिलते।"

कृष्ण—"मजदूरों की ज़रूरत ही क्या है। मुझे बाग में काम करना बहुत अच्छा लगता है। मैं प्रतिदिन आकर कुछ न कुछ काम कर दिया करूँगा।"

ज्ञानी ने कृष्ण की ओर सप्रेम देखकर कहा, "मैं किसी की मदद नहीं चाहती।"

कृष्ण—"तो क्या मैं भी कोई ग़ैर हूँ ? इसमें कष्ट कौन-सा होगा ? मुझे तो और भी आनन्द आवेगा। पौधे जितने चाहूँगा, महीपसिंह के बाग से उखाड़ लाऊँगा। जब वे सुनेंगे कि तुम बाग लगा रही हो, तो वे सहर्ष पौधे दे देंगे। मैं तो समझता हूँ कि अपने माली को भी भेज देंगे।"

सुखदास—"नहीं, तुम वहाँ से हमारे नाम से कोई वस्तु न लाना। उन्होंने हमारे लिए मकान बनवा दिया और नित्य कुछ न कुछ भेजते रहते हैं। मैं उन्हें अधिक कष्ट नहीं देना चाहता।"

कृष्ण—"पौधों में उनके कौन दाम लगते हैं। मैं कल अवश्य उनसे यह ज़िक्र करूँगा।"

यह बात करते करते ये लोग मार्ग के उस स्थान पर आ गये जहाँ दो शाखें हो गई थीं। कृष्ण, विदा होकर एक तरफ़ चला गया, सुखदास और ज्ञानी ने अपने घर की राह ली। जब वे अकेले रह गये, तो ज्ञानी ने कहा, 'मैं अपनी वाटिका में तरकारियाँ भी लगाऊँगी। उससे हमारी बहुत सी आवश्यकताएँ पूरी हो जायँगी।"

जब दोनों घर पहुँचे तो ज्ञानी ने आसन बिछाकर सुखदास के लिए एक थाली में कुछ फलाहार लाकर रख दिया। सुखदास भोजन करने लगा। जब वह भोजन कर चुका तो धूप में जाकर नारियल पीने लगा। उसने कोई

दो वर्ष से लोगों के कहने से हुक्का पीना शुरू कर दिया था। लोगों ने उसे बताया था कि धूम्रपान से मूर्छा का रोग पास नहीं आता। इसका धुआँ और भी कितने ही कीट-पतिंगों को नाश कर देता है। वैद्यजी ने भी इसका समर्थन किया था। यद्यपि वह तम्बाकू पीने लगा था, पर उसको उसमें कुछ स्वाद न मिलता था। उसे आश्चर्य होता था कि लोग धूम्रपान के क्यों इतने अभ्यासी और इच्छुक होते हैं।

ज्ञानी ने यद्यपि वाटिका लगाने का मुख्य उद्देश्य सुखदास से छिपाया था, पर वास्तव में वह अपनी माता का एक स्मारक चिह्न बनाना चाहती थी, क्योंकि वह झाड़ी जहाँ उसकी माता का देहान्त हुआ था, उस प्रस्तावित वाटिका के ठीक मध्य में आती थी। ज्ञानी का विचार था कि उस झाड़ी के चारों ओर सुन्दर सुगन्धित पुष्प लगा दिये जायँ। सुखदास ने कई साल पूर्व उसकी माता के मरने की कथा बयान कर दी थी। ज्ञानी प्रत्यक्षतः तो बहुत प्रसन्नवदन रहती पर उसके मन में यह शोकमय प्रश्न उठा करता था कि मेरी माता कौन थी? वह यहाँ कैसे आई? क्यों आई? उसका घर कहाँ था? उसका रूप-रंग कैसा था? इन प्रश्नों का उसे कोई उत्तर न मिलता था। वह लोगों से सुना करती थी कि सुखदास ने मेरा लालन-पालन कितने कष्ट से किया है। अब भी वह सुखदास को अन्य साधारण पिताओं से कहीं बढ़कर पाती थी। वह उसके लिए इस बुढ़ापे में कितना परिश्रम करता था, उसके विवाह के निमित्त कितना कष्ट उठाकर धन संचय करता था, उसके भोजन-वस्त्रादि का कितना ध्यान रखता था। गाँव में किसी युवती के पास ऐसे अच्छे आभूषण न थे जैसे ज्ञानी के पास। ज्ञानी को सगर्व अनुभव होता था कि वह उसके रूप-लावण्य और चाल-ढाल को देखकर कैसा मुदित हो जाता है! अतएव वह उसे पिता समझती थी और उससे प्रेम करती थी। वह कभी कोई ऐसी बात न करती जिससे सुखदास को दुःख हो। उसकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करती। पर पितृस्नेह मातृप्रेम का स्थान न ले सकता था। जब वह अन्य माताओं का अपनी सन्तानों के प्रति प्रेम देखती तो उसका

हृदय विदीर्ण हो जाता। वह सोचती, मेरी माता भी ऐसी ही स्नेहमयी होगी। उसकी दीनता और शोकमयी मृत्यु को स्मरण करके वह कभी रोती थी। उस झाड़ी के समीप से वह जब निकलती तो उसे अपनी मा की याद आ जाती, रोंगटे खड़े हो जाते। वह कल्पना में कभी कभी अपनी माता का चित्र-खींचा करती थी।

तीसरा पहर था। सुखदास धूप में बैठा हुआ नारियल पी रहा था कि ज्ञानी आकर उसके समीप बैठ गई और बोली—पिताजी, हम उस झाड़ी को वाटिका में मिला लेंगे। मैं वहाँ ऐसे पौधे लगाऊँगी जो कभी मुरझा न सकें।

सुखदास—यह बहुत उचित होगा। उस झाड़ी में जब पीले पीले फूल खिलते हैं तो कैसे सुहावने मालूम होते हैं। पर यह तो बताओ कि वाटिका की चारदीवारी बनेगी। चारदीवारी न रहेगी तो गायों और गधों के मारे एक पौधा भी न बचेगा।

ज्ञानी—यहाँ बहुत से ऐसे पत्थर मिलेंगे जिन्हें ऊपर तले रखने से दीवार बन जायगी।

सुखदास—यह तो ठीक है, पर तुम्हें पत्थरों के लाने में बहुत कष्ट होगा। तुम अत्यन्त सुकुमारी हो।

ज्ञानी (लजाकर)—आप जैसा समझते हैं, मैं उतनी निर्बल नहीं हूँ। मैं तो पत्थर अवश्य लाऊँगी। अगर पत्थर काफ़ी न होंगे तो लकड़ियाँ काट-काटकर बाड़ा बना दिया जायगा। देखो, इस खोह में कितने पत्थर पड़े हैं!

यह कहकर वह खोह की ओर चली और बोली, "पिताजी! यहाँ आकर देखो, आज खोह में कल से बहुत कम पानी रह गया है।"

सुखदास ने खोह में झाँककर कहा, "हाँ, पानी हट गया है। लोग इसके पानी से अपने खेत सींच रहे हैं।"

ज्ञानी—तो हम लोगों को अब नहाने के लिए दूर जाना पड़ेगा।

यह कहकर उसने एक बड़ा-सा पत्थर उठाया और सुखदास के बहुत मना करने पर भी लाकर रख दिया।

नवाँ अध्याय

ठाकुर नरेशसिंह का कई साल पहले देहान्त हो गया था। अब महीप-सिंह घर का स्वामी और उसकी स्त्री केसरी घर की स्वामिनी थी। यह स्त्री गृहकार्य्यों में बहुत कुशल थी। वह कुप्रबन्ध जो नरेशसिंह के समय में था, अब नाम मात्र को भी न रह गया।

पर महीपसिंह का जीवन उतना आनन्दमय न था, जितना होना चाहिए था। उसके अभी तक कोई सन्तान न हुई थी, हालाँकि उसकी अवस्था चालीस की हो चुकी थी। वह बहुधा इसी चिन्ता में पड़ा रहता था। उसे इसके सिवाय और कोई आशा न थी कि किसी बालक को गोद ले ले। उसने अपने मन में दयामयी के पुत्र कृष्णसिंह को गोद लेने का निश्चय किया था। यह नवयुवक बड़ा सुशील और सच्चरित्र था। पर महीपसिंह ने इस प्रस्ताव को बहुत दिनों तक अपने मन ही में गुप्त रखा कि कहीं केसरी इसे सुनकर दुखी न हो। पर जब अन्त में दैविक और भौतिक उपायों से कोई काम न निकला तो उसने विवश होकर केसरी से यह चर्चा की। और जैसा भय था, वैसा ही हुआ। केसरी ने उसका विरोध किया। उसका विचार था कि जब ईश्वर ने कोई सन्तान नहीं दी तो दूसरे की सन्तान को अपना बना लेना व्यर्थ है! उसको सन्देह था कि ऐसी सन्तान अच्छी नहीं होती। जिन लोगों ने ऐसा किया है, उनको पछताना पड़ा है। उसने महीप से कहा, "मैं तुम्हें गोद लेने की कभी सलाह न दूँगी। इसका फल अच्छा नहीं होता है।"

महीपसिंह—तुम्हारे मन में यह विचार क्यों कर पैदा हो गया कि ऐसी सन्तान अच्छी नहीं होती। देखो दयामयी का लड़का कृष्णसिंह कैसा होनहार और सच्चरित्र लड़का है?

केसरी—हाँ वह अध्यापक के घर रहकर बुरा नहीं हो सकता। पर तुम्हारे यहाँ रहे, तो अवश्य बुरा निकलेगा। तुम्हें उस स्त्री की बात याद नहीं

है, जो अयोध्या-स्नान के समय मिली थी। उसने कहा था कि मैंने एक लड़के को रास पर बैठाया था। जब वह तेईस वर्ष का हुआ, तो उसने ऐसा अपराध किया कि देश से निकाल दिया गया। ऐसी ही और भी कई घटनाएँ सुनने में आई हैं। इसी से मेरा मन हिचकता है।

ज्ञानमयी जब १२ वर्ष की थी, तभी से महीपसिंह ने यह संकल्प कर लिया था कि उसका कृष्ण से विवाह करूँगा और कृष्ण को गोद ले लूँगा। इस प्रकार ज्ञानी और उसकी सन्तान मेरी उत्तराधिकारिणी हो जावेगी। केसरी का दुराग्रह उसके उस पुराने संकल्प को नष्ट कर रहा था। ज्ञानी को उसके पैतृक अधिकार को प्रदान करने का महीप को और कोई उपाय न सूझता था। उसने सोचा, स्त्रियाँ कितनी स्वार्थिनी होती हैं। केसरी इस काम से मुझे इसलिए रोकती है कि मेरे मरने के उपरान्त इसके हाथ में कोई अधिकार न रह जावेगा। इस विचार ने महीप को बहुत शोकातुर कर दिया। यद्यपि उसका चित्त बहुत ही दुखित हुआ, पर उसने अपने किसी वाक्य या भाव से अपने चित्त की दशा केसरी पर प्रकट न होने दी। वह पूर्ववत् केसरी से प्रेम और उसका आदर करता रहा। केसरी को यद्यपि अपने पति से सहानुभूति थी, पर वह अपने मन को इस तर्क से समझा लेती कि संसार चिन्ता सागर है। यहाँ चिन्ता से कौन मुक्त हो सकता है। महीप को यदि सन्तान की चिन्ता न होती तो कोई दूसरी ही चिन्ता होती। इसके साथ ही वह महीप की सेवा-सुश्रूषा बड़े आनन्द और प्रेम से किया करती। अतएव उसकी समझ में यह बात न आती थी कि इन बातों के होते हुए महीप को क्यों सन्तान की चिन्ता होती है।

पर ज्यों-ज्यों दिन गुजरते थे, केसरी को यह अनुभव होता था कि मेरी प्रेम-सेवा से अब पति का चित्त प्रसन्न नहीं होता। वह कोई ऐसा व्यक्ति चाहता है जो जमीनदारी के प्रबन्ध में उसकी सहायता कर सके। कारिन्दे और सिपाहियों की निगरानी अब उससे न होती थी। वह प्रत्यक्ष देखता था कि नौकर मुझे लूट रहे हैं, पर वह न तो उन्हें पकड़ सकता था और न

दण्ड दे सकता था, इसलिए मन ही मन में कुड़बुड़ाकर रह जाता था।

एक दिन महीपसिंह किसी काम से बाहर गया हुआ था कि दयामयी की एक बहिन जो समीप ही के किसी गाँव में ब्याही हुई थी, उससे मिलने आई। उसका नाम यशोदा था। बातों ही बातों में रास लेने की भी चर्चा आ गई। यशोदा ने कहा, "तो तुम उन्हें रास लेने से मना क्यों करती हो?"

केसरी—मुझे यही शंका होती है कि कहीं वह लड़का हमसे विमुख हो जाय, तो हमारी क्या दशा होगी।

यशोदा—यह केवल तुम्हारा भ्रम है। तुम नहीं जानती हो, मनुष्यों की अवस्था ज्यों ज्यों अधिक होती जाती है, सन्तान की चिन्ता उनके दिल में प्रबल होती जाती है। निस्सन्तान मनुष्य को अपने सामने अन्धकार के सिवाय और कुछ नहीं सूझता। वह सोचता है, मैं किसके लिए जीऊँ, किसके लिए धन सञ्चय करूँ। मेरी मुक्ति कौन करेगा, मुझे पिण्डा-पानी कौन देगा। मैं तुमको यह सलाह दूँगी कि तुम आज ही अपने पति को इस विषय में निश्चिन्त कर दो।"

ये बातें केसरी के मन में बैठ गईं। उसके मन में यह प्रबल इच्छा हुई कि महीप शीघ्र ही घर आ जाय। अतः वह द्वार पर खड़ी होकर उसकी बाट देखने लगी।

उसे इस भाँति खड़े बहुत देर हो गई। आख़िर शाम होते होते महीपसिंह घर पर आये। केसरी ने पूछा आज क्यों बहुत देर हो गई? क्या कहीं और चले गये थे?

महीप ने इसका उत्तर न दिया। वह चुपचाप कपड़े उतारकर रखने लगा। उसका चेहरा बहुत उदास था, मानो हृदय पर कोई बड़ी चोट लगी है। अन्त में वह चारपाई पर बैठ गया और केसरी से बोला, दरवाज़े बन्द कर दो। कह दो, इस घड़ी यहाँ कोई न आवे।"

जब द्वार बन्द हो गया तो महीपसिंह ने कहा, "मैं यथाशक्ति शीघ्र ही

लौट आया ताकि वह बात जो मैं तुमसे कहनेवाला हूँ कोई और न कह दे। इस बात से मेरे हृदय को बड़ा आघात पहुँचा है।"

केसरी ने आशंकित होकर कहा - मेरे घर तो सब कुशल से हैं?

महीप—हाँ, सब कुशल है। यह चोट किसी जीवित मनुष्य की ओर से नहीं, दिलीपसिंह की ओर से है। आज मुझे उसकी लाश एक खोह में मिल गई। सुखदास के घर के पास, जो तालाब है वह खेतों की सिंचाई के कारण बिलकुल सूख गया है। आज उसमें दिलीप की लाश दो पत्थरों के बीच में फँसी हुई मिली। मेरी घड़ी और मेरा शिकारी चाबुक भी वहीं पड़ा हुआ है।"

केसरी पहले बहुत व्याकुल हो गई थी। वास्तविक बात के ज्ञात होने पर उसे ढाढ़स हुआ, किन्तु उसे उस आघात का अनुभव न हुआ जिससे महीपसिंह का अन्तःकरण पीड़ित हो रहा था। बोली - क्या वे उसमें डूबकर मर गये?

महीपसिंह—ऐसा जान पड़ता है कि वह उसमें फिसल पड़ा होगा। सुखदास के रुपये भी उसी ने चुराये थे।

यह सुनकर केसरी चौंक पड़ी। वह अवाक् होकर पति की ओर ताकने लगी। या तो उसे अपने कानों पर विश्वास न आया, या वह यह निश्चय न कर सकी कि चित्त के भाव को क्यों कर प्रकट करूँ।

महीप—शव के पास ही सुखदास के रुपये ज्यों के त्यों थैली में बन्द मिले हैं। कह नहीं सकता कि इस समय मुझे कितनी लज्जा और शोक है। मरे हुए आदमी को क्या कहूँ। पर दिलीप ने कुल को कलंकित कर दिया। अब हम सिर उठाने के लायक़ न रहे। जब यह बात खुल गई तो फिर अब परदा करने की क्या ज़रूरत? वह स्त्री जिसकी लाश गढ़े के किनारे झाड़ी में मिली थी, दिलीपसिंह की पत्नी थी और ज्ञानी उसी की पुत्री है।

केसरी ने शोकातुर होकर कहा—भगवान की यही इच्छा थी, तो कोई क्या कर सकता था। पर तुमने मुझसे यह भेद छिपाया, इससे ज्ञानी की बड़ी

हानि हुई। यदि तुमने यह बात मुझसे पहले ही कही होती तो हम उस बच्ची के लिए अब तक क्या कुछ न कर डालते। मैं प्रेम से उसका पालन करती। उसे कुल-रीत्यनुसार शिक्षा देती। मैं उसे इतना प्यार करती कि उसकी माता भी उससे अधिक न कर सकती। हमारी ही लड़की और हम उससे इतने दिन तक बिलग रहे। शोक के मारे केसरी की आँखों से आँसू बहने लगे।

दसवाँ अध्याय

रात के आठ बजे थे। सुखदास ऐनक लगाये चिराग के सामने बैठा हुआ था। अशर्फियों की थैली उसके निकट एक चौकी पर रखी हुई थी। यद्यपि सुखदास एक समय इन अशर्फियों पर जान देता था, इन्हें अपने जीवन का मुख्य अवलम्ब समझता था, पर अब उन्हें फिर पाकर उसे विशेष आनन्द नहीं हुआ। उसे केवल इतना ही संतोष हुआ कि ज्ञानी के विवाह के लिए मुझे अब रुपयों का तरद्दुद न रहेगा, खूब धूमधाम से विवाह करूँगा और ऐसी उदारता से दान-दहेज दूँगा कि लोग दंग हो जायँ। रुपये उसके लिए अब आनन्द की वस्तु न थे, उसे अब उनके उपयोग से आनन्द आता था। इसके सिवाय उसके मलिन होने का एक और कारण था। वह सरल धार्मिक सिद्धान्तों का मनुष्य था। वह समझ रहा था कि इन्हीं अशर्फियों के कारण दिलीपसिंह की जान गई। उसे विश्वास था कि भगवान् या अन्य किसी दैविक शक्ति ने दिलीप को खोह में ढकेलकर उसके कुकर्म का दण्ड दिया है। इसी प्रकार कुछ देर तक सोच में डूबे रहने के बाद उसने ज्ञानी से कहा—जब अशर्फियाँ मेरे पास से चली गईं तो मैं रात दिन इसी आशा में रहता था कि वे मेरे पास फिर आ जायँ। एक दिन मैंने तुम्हें यहाँ पाया। उस समय तुम बहुत छोटी थीं। तुम्हारा आना मेरे लिए अमृत हो गया, नहीं तो मैं अशर्फियों के शोक में पागल हो जाता।

इतने में ठाकुर महीपसिंह और उनकी स्त्री केसरी ने मकान में प्रवेश किया। ज्ञानी ने उनके लिए आसन बिछा दिया। सुखदास को विस्मय हुआ कि आज ठकुराइन यहाँ कैसे आईं। ज्ञानी को भी यही आश्चर्य्य था।

महीपसिंह ने कहा—सुखदास, मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि तुम्हारे खोये हुए रुपये इतने दिनों के बाद तुम्हें मिल गये। यद्यपि इसका अत्यन्त शोक

और लज्जा है कि मेरे भाई के कारण तुमको यह दुख सहना पड़ा था। उसके लिए मैं हर तरह से तुम्हारा क्षमाप्रार्थी हूँ।

सुखदास—यह सब ईश्वर की गति है, इसमें आप को कोई खेद न करना चाहिए।

महीप—हाँ, इसके सिवाय मन को और कैसे बोध हो सकता है।

सुखदास—मैं आप से सत्य कहता हूँ कि अशर्फियों को पाकर मुझे आनन्द नहीं हुआ, क्यों कि मुझे भय होता है कि कहीं उनको पाकर मैं ज्ञानी को हाथ से न खो बैठूँ। ज्ञानी मुझे इन्हीं अशर्फियों के बदले में तो मिली थी।

महीप ने मुसकिराकर कहा—"तुम्हारी शंका बहुत ठीक है, क्योंकि वास्तव में अब ज्ञानी तुम्हारे पास बहुत दिनों तक न रहेगी। दोनों सुखों को एक साथ कैसे भोग सकोगे? ज्ञानी का विवाह तो करना ही पड़ेगा।

सुखदास—इसमें तो मुझे आप ही की सहायता का भरोसा है।

महीप—मैं इसी लिए तो इस समय तुम्हारे पास आया हूँ। मुझे तुमसे एक भेद कहना है जिसे सुनकर तुम चकित हो जाओगे। ज्ञानी मेरे भाई दिलीपसिंह की बेटी है। यह बात मुझे उसकी माता के मरने के दो-चार दिन पीछे ही ज्ञात हो गई थी, पर मैंने तुमसे इसका ज़िक्र नहीं किया, इसलिए कि तुम्हें दुःख होगा। यह तो जानते ही हो कि मेरे कोई संतान नहीं है। मैंने यह निश्चय किया है कि ज्ञानी को अब अपने घर ले चलकर रखूँ और उसकी जायदाद उसके हवाले कर दूँ। मैं दयामयी के पुत्र कृष्णसिंह को गोद लेने का विचार कर रहा हूँ। उससे ज्ञानी का विवाह कर दूँगा। तुम भी वृद्ध हुए और तुम्हारी सम्पत्ति भी मिल गई, अब यह करघे का काम छोड़ दो। हमारे यहाँ चलकर आनन्दपूर्वक रहो। वहाँ ज्ञानी तुम्हारी आँखों के सामने रहेगी। तुम्हारा मन बहलता रहेगा।

केसरी ने कहा—इन्होंने कल तक मुझसे यह न बतलाया था कि ज्ञानी मेरी भतीजी है, नहीं तो मैं इसे यहाँ से कब की ले गई होती। बेटी, अब तुम

अपने घर चलकर रहो। मैं जब तक जीऊँगी, तुम्हें अपनी बेटी समझती रहूँगी।

सुखदास ने सजल आँखों से ज्ञानी को देखकर कहा—बेटी, तुम अब मेरी नहीं, ठाकुरसाहेब की पुत्री हो। तुम्हें यह सौभाग्य मुबारक हो। पर मैं ऐसा न जानता था। तुम अब अपने पिता के घर जाओ, मैं अपनी इसी कुटी में रहूँगा। जब तुम्हें देखने को जी चाहेगा, चला आया करूँगा। भगवान्, तुम्हारी लीला विचित्र है!

यह कहकर सुखदास ने एक दीर्घ निःश्वास लिया और वह आकाश की ओर देखने लगा। ज्ञानी को अब तक वह अपनी लड़की समझता था, पर अब अपने को धोखे में न रख सकता था।

ज्ञानी ने केसरी की ओर देखकर कहा—चाची, आप लोगों ने मुझ अनाथा पर बहुत दया की है और मुझे यह जानकर कि मैं आप ही लोगों की सन्तान हूँ, बड़ा गौरव हो रहा है, पर मैं अपने पिता को छोड़कर आपके शरण में भी नहीं जा सकती। मैं अपने सौभाग्य पर अपने धर्मपिता के सुख और शांति का बलिदान न करूँगी। मुझे आगे चलकर भाग्य चाहे जहाँ ले जाय, पर मेरा घर यही है और मेरे पिता यही हैं।

केसरी ने गद्‌गद होकर कहा—बेटी, तुमने बहुत उचित बात कही। यही तुम्हारा धर्म है। तुम इस घर में उस समय तक सानन्द रहो, जब तक मैं तुम्हें बेटी के बदले बहू न बना ले जाऊँ।"